ओ३म्

भारत में मूर्तिपूजा

लेखक

पंडित राजेन्द्र

प्रणेता—ऋषि दयानंद के पुण्य सस्मरण, पूर्वजन्मस्मृति, भारतीय संस्कृति के तीन प्रतीक, गीता विमर्श, गीता की पृष्ठभूमि, ऋषि दयानंद और गीता, आदि

प्रकाशक

वेद मंदिर प्रकाशन

अतरौली (अलीगढ)

उत्तर प्रदेश

तृतीय संस्करण

मूल्य २) रुपया

सर्वाधिकार लेखक के आधीन

मुद्रक
सुरेशचन्द्र वार्ष्णेय एम० ए०
आशा प्रेस
तिलहरकुंज, महेन्द्रनगर, अलीगढ

विषय सूची

क्रम सख्या	विषय	पृष्ठ
१	मूर्तिपूजा का आदि तथा आदिकारण	१
२	वैदिक काल और मूर्तिपूजा	१६
३	मूर्तिपूजा और अवतारवाद	३४
४	मूर्तिपूजा और बहुदेवतावाद	४३
५	मूर्तिपूजा और रामायण काल	५०
६	मूर्तिपूजा तथा महाभारत काल	६०
७	मूर्तिपूजा और पौराणिक काल	७१
८	मूर्तिपूजा और मुस्लिम काल (१)	११८
९	मूर्तिपूजा और मुस्लिम काल (२)	१४०
१०	मूर्तिपूजा और वर्तमान सुधार काल	१५६
११	सिंधुघाटी की सभ्यता और मूर्तिपूजा	१७५
१२	वेदो मे मूर्तिपूजा की भ्रान्ति	१८०
१३	मूर्तिपूजा का मानव जीवन पर प्रभाव	१९६
१४	मूर्तिपूजा और योगसाधन	२०५
१५	मूर्तिपूजा शङ्का-समीक्षा	२१४
१६	उपासना विधि	२५२

लेखक

तृतीय संस्करण की भूमिका

इस देश के जिन दार्शनिक विद्वानों ने भारतीय दृष्टिकोण से हमारे विगत दो हजार वर्षो के धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पर विचार किया है, वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे विना नहीं रह सके कि यह काल विकास का न होकर हमारे ह्रास का रहा है। मूर्तिपूजा भी इस ह्रास की एक मुख्य कडी है। दुर्भाग्यवश हमारा शिक्षित समाज आज इस तथ्य को नही समझ पा रहा—जिन लोगो का मूर्तिपूजा के साथ अपना स्वार्थ निहित है उनकी तो बात ही दूसरी है। हमारा समस्त वैदिक साहित्य इसकी साक्षी है कि बौद्ध-काल से पूर्व हमारे धर्म अथवा सस्कृति मे मूर्तिपूजा को किंचित मात्र भी कोई स्थान नही था। 'रामायण काल तो क्या महाभारत काल मे भी मूर्तिपूजा का इस देश मे प्रचार नहीं था—इसके यह दोनो ग्रंथ अपने वर्तमान प्रक्षिप्त रूप में भी साक्षी है।

मूर्तिपूजा बौद्ध और जैन सम्प्रदायो मे आज से २००० वर्ष पूर्व विकसित हुई—प्रारम्भ मे यह सम्प्रदाय भी मूर्तिपूजक नही थे। इसका ज्वलन्त उदाहरण इनमे मूर्तिपूजक और उसके विरोधी—परस्पर मतभेद रखने वाले दो विभिन्न वर्गों की विद्यमानता है, जिनमे परस्पर सघर्ष इस विषय पर आज भी रहता है।

यह सब रहते हुए भी मूर्तिपूजा में एक आकर्षण है, जिसके कारण यह सदा और सर्वत्र पनपती रही—और वह है, इसके साथ जुडा हुआ सहज प्राप्त आर्थिक लाभ। यह वह धन-वैभव है जिसके सहारे पडे-पुजारी, महत, मदिरों के कर्मचारी, तीर्थस्थानो के व्यापारी, मजदूर और यात्रियो से प्राप्त अनेक प्रकार के प्रशासन के राज्यकर जिनसे सभी लाभान्वित होते रहते है

एक मूर्तिपूजक को इस पूजा से आध्यात्मिक लाभ है या हानि इससे इन लोगों को सम्बन्ध नही है। तीर्थस्थानो के गगनचुम्बी मठ-मन्दिर, उनकी राजमहल जैसी धर्मशालाएं, महन्तो के भवन और राजसी रहन सहन, पडे-पुजारियो के विलासी जीवन —यदि किसी की आंख खोलने के लिए अपर्याप्त है तो उसे ज्ञान-चक्षु विहीन के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ?

यदि मूर्तिपूजा ईश्वर प्राप्ति का साधन है, यदि वह एक सीढ़ी है जिस पर चढ़ कर हम ऊपर चढते है अथवा हमारा अध्यात्म विकास होता है—तब मूर्ति और मूर्तिपूजा के नित्य-प्रति सम्पर्क में रहने वाले पंडे पुजारी, महन्त एव तीर्थ निवासी उससे वंचित क्यों है? यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर किसी निष्पक्ष विचारशील मूर्तिपूजक के पास कोई नही है।

हमारा यह विगत इतिहास हमारे घोर पतन–जिसमे हमारी धार्मिक, सामाजिक एव राजनीतिक और उसके फलस्वरूप एक हजार वर्ष की हमारी दासता तथा उसकी अकथनीय यातनाएं सभी सम्मिलित हैं—की एक लम्बी कहानी है। ससार की अविकसित और असभ्य जातियो ने अपनी सांस्कृतिक तथा राजनीतिक भूलों से कुछ सीखा और विकसित होकर कहीं से कही जा पहुंची। परन्तु हमने अपने अतीत के मिथ्या अभिमान में अपनी भूलों और कुरीतियों से कोई शिक्षा नही ली।

हम कुछ हजार वर्षों की धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियो को सनातन समझते हैं और वेद-शास्त्रो की अमूल्य ईश्वर एवं ऋषियों की दी हुई प्राचीन निधि को यदि हमारे समक्ष कोई रखता है तो उसे नवीन कहते हैं। आज भी वही स्वार्थपूर्ण साम्प्रदायिक शक्तियां जिनका हमारी इस अधोगति में गहरा हाथ रहा है, हमारे मार्ग में बाधक हैं।

इसी गत दो हजार वर्ष के मूर्तिपूजा के इतिहास पर इस

पुस्तक मे सविस्तार विवेचन किया गया है। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर अर्वाचीन पौराणिक साहित्य के सभी पक्ष-विपक्ष के सिद्धान्तो पर विचार, आपको इसमे मिलेंगे। पक्ष-विपक्ष मे दी जाने वाली सभी युक्तियाँ और उनका समाधान आप यथास्थान इसमे पायेंगे।

इस पुस्तक का यह तीसरा सस्करण है, जो इसकी लोक-प्रियता का एक प्रमाण है। देश के अनेक निष्पक्ष विद्वानो और पत्र-पत्रिकाओ ने इसकी सराहना द्वारा जहाँ मुझे आभारी किया है वहाँ देश के प्रत्येक भाग मे इसे प्रसारित करने मे वे सहायक हुए हैं।

मुद्रण-स्थान दूसरे नगर में होने के कारण, मुद्रण की अशुद्धियाँ इस तीसरे संस्करण में चलती रही। बड़े प्रेसों की महगी छपाई से बचकर पुस्तक को यथासम्भव सस्ता रखने का प्रयास भी इसका एक अन्य कारण है। महगा कागज एव धार्मिक साहित्य के विक्रय की मन्दगति, डाक की बढी हुई दरें—आज प्रकाशक के मार्ग में अनेक बाधाये है, जिनको भली-भाति वही जानता है। आशा है कि इन सबको दृष्टि मे रख कर पाठक लेखक, प्रकाशक और मुद्रक सभी को क्षमा करेंगे। मुद्रण की मुख्य अशुद्धियाँ पुस्तक के अन्त में दी गई है, पाठक उन्हे देखकर यथास्थान सुधारने का कष्ट करे।

—राजेन्द्र

आर्य-निवास,
अतरौली (अलीगढ)
आश्विन पूर्णिमा स० २०२० वि०

मूर्ति पूजा का आदिकाल

तथा

आदि कारण

मूर्ति-पूजा का आदिकाल

संसार के विभिन्न भागो में मूर्तिपूजा का सूत्रपात्र कब और कहाँ हुआ यह तो कहना कठिन है किन्तु जहा तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है, पूर्वी एव पश्चिमी सभी इतिहासिज्ञ तथा दार्शनिको का मत है कि उसका जन्मकाल जैन-बौद्ध काल है। हिन्दू सम्प्रदायवादी चाहे इस विचार से सहमत न हो किन्तु निष्पक्ष स्वतन्त्र विचारक इस विषय मे एक मत हैं। अत जहाँ तक ऐतिहासिक खोज का सम्बन्ध है, इसका समय जैन-बौद्ध काल से पहले नही जाता।

बुद्ध का जन्मकाल ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व माना जाता है। वर्तमान जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर स्वामी, महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। भगवान बुद्ध की शिक्षाओ मे कहीं भी मूर्तिपूजा का उल्लेख नही है। उन्होने ८० वर्ष की आयु मे निर्वाण पद प्राप्त किया। उनकी मृत्यु के पश्चात् स्मारक रूप मे, उनके शिष्यो ने उनके केश, दाँत और अस्थियों को लेकर उन पर समाधिया निर्माण कर दी। सम्भवतः कुछ काल व्यतीत होने पर अज्ञान और मोह वश, इन स्मारक चिन्हो की पूजा प्रारम्भ होगई। धीरे धीरे इन ही समाधियो पर बुद्ध की

मूर्तियाँ स्थापित कर दी गई और उनकी सर्वत्र पूजा होने लगी। बौद्ध धर्म की मूर्तिपूजा के इस विकास के लिये कुछ शताब्दियों का व्यतीत हो जाना अस्वाभाविक नही है। सम्भव है, प्रारम्भ में जैन धर्म में भी मूर्तिपूजा का कोई स्थान न हो और बौद्ध धर्म की भाति इसमें भी उसका शनैः शनैः विकास हुआ हो। अतएव मूर्तिपूजा का प्रारम्भिक काल महात्मा बुद्ध के जन्म के पश्चात् कुछ शताब्दियाँ व्यतीत होने पर ही निश्चय होता है।

मूर्तिपूजा हमारे देश में बौद्धकाल से पूर्व किसी भी रूप मे प्रचलित न थी, इसका सबसे प्रबल ऐतिहासिक प्रमाण चीन के दो प्रसिद्ध यात्री फाहियान तथा हेनसांग का यात्रा विवरण है। फाहियान ने इस देश की सन् ४०० ई० मे यात्रा की। उसका कहना है कि उस समय काबुल में बौद्ध धर्म का पूर्ण विस्तार था और वहां ५०० बौद्ध विहार थे। मथुरा मे उसने तीन हजार बौद्ध भिक्षुओं को देखा था और उस समय वहाँ बौद्ध धर्म का पूरा प्रचार था। राजपूताने के समस्त राजा बौद्ध धर्मावलम्बी थे। उसने सर्वत्र ऐसे विहार देखे जिन पर लाखो रुपये व्यय किये गये थे। वह सब स्थानों में घूमता हुआ पटना पहुँचा जहाँ बौद्धो के सघो मे प्रथम बार बुद्ध की मूर्ति को देखा। वह लिखता है—

"प्रति वर्ष दूसरे मास के आठवे दिन मूर्तियो की एक सवारी निकाली जाती है। इस अवसर पर लोग चार पहिये का रथ बनवाते हैं और उस पर बांसो का ठाठ बाँध कर पांच बाँसो का खण्ड बनाते है। उसके बीच एक खम्भा रखते है जो तीन फल वाले भाले की भाति होता है और ऊंचाई में २२ फीट या इससे अधिक होता है, और मदिर की भांति दीख पड़ता है। तब वे सफेद मलमल से उसे ढकते हैं और चटकीले रंगो से

उसे रगते हैं। फिर देवो की चादी सोने की मूर्तियाँ बनाकर चाँदी सोने और काच से आभूषित करके कामदार रेशमी चन्दुए के नीचे बैठाते है। रथ के चारो कोनों पर वे ताख बनाते है और उनमे बुद्ध को बैठी मूर्तियाँ जिनकी सेवा मे एक बोधिसत्व खडा रहता है, बनाते हैं। ऐसे ऐसे बीस रथ बनाये जाते हैं। इस यात्रा के दिन बहुत से गृहस्थ और सन्यासी एकत्रित होते हैं। जब वह फूल और धूप चढाते है तो बाजा बजता है और खेल होता है। श्रमण लोग पूजा को आते हैं। तब बौद्ध एक ऐक करके नगर मे प्रवेश करते हैं। और वहाँ वे ठहरते हैं। रात भर रोशनी करते है। गाना और खेल होता है। पूजा होती है इत्यादि इत्यादि।"

यहाँ से इसने राजगृही, गया, काशी, कौशाम्बी और चपा जो पूर्वी बिहार की राजधानी थी, की यात्रा की। परन्तु उसने इन तीर्थो मे एक भी हिन्दुओ का मन्दिर नही देखा। सब जगह बौद्धो के सँघाराम ही देखे। ताम्रपल्ली मे भी उसने २४ सघाराम देखे। अन्त मे वह जहाज द्वारा सिहल को चला गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि फाहियान की यात्रा के समय बौद्धो मे भी सर्वत्र मूर्तिपूजा का प्रचार नही हुआ था। हिन्दुओ के अनेकानेक वर्तमान देवी देवताओ की मूर्तियो और उनके मन्दिरो की तो अभी सृष्टि भी नही हुई थी। इस प्रकार फाहियान का यात्रा काल निर्विवाद रूप से मूर्तिपूजा का प्रारम्भिक युग कहा जा सकता है।

फाहियान के लगभग दोसौ वर्ष के पश्चात् हेनसाँग एक दूसरा चीनी यात्री भारतवर्ष मे आया। वह फरगन, समरकंद, बुखारा और बलख होता हुआ, इस देश मे आया। यह यात्री सन् ६४० ई० मे भारत मे था।

उसने जलालाबाद को बौद्धों से परिपूर्ण, समृद्धशाली नगर पाया। उसने यहाँ पाँच शिवालय हिन्दुओं के देखे जिनके १०० पुजारी थे। कंधार और पेशावर में उसने एक हजार बौद्ध सघारामों को उजडा हुआ खंडहरावस्था में पाया और हिन्दुओं के सौ मन्दिर देखे।

उसने मालवा के राजा शिलादित्य का वर्णन किया है, जो विक्रमादित्य का पुत्र था। विक्रम ने मनोत्हृत नाम के बौद्ध भिक्षु को हिन्दुओं का पक्षपाती होने के कारण अपमानित किया था, किन्तु शिलादित्य ने बुलाकर उसकी प्रतिष्ठा की थी। इस यात्री ने पौलुश नगर के निकट एक ऊचे पर्वत पर नीले पत्थर से काट कर बनाई हुई एक दुर्गा की मूर्ति देखी। जहा उसने धनी, दरिद्र सब ही को एकत्र इस मूर्ति की पूजा करते देखा। पर्वत के नीचे महेश्वर का एक मन्दिर था जहाँ भस्म लगाये अनेक साधु रहते थे।

काबुल और चमन में जहां दो सौ वर्ष पूर्व फाहियान ने बौद्ध धर्म का पूर्ण उत्कर्ष देखा था, वहाँ हेनसांग ने सघारामो को उजाड़ पाया और दस हिन्दू मन्दिरो को देखा। उसने तक्ष-शिला और काश्मीर मे जैनियो को महावीर की मूर्ति पूजते देखा। काश्मीर मे अब भी बौद्धो का प्राबल्य था और वहां उस समय कनिष्क राज्य करता था जो बौद्ध था, जिसने बौद्धों की दशा उन्नत करने के अभिप्राय से एक सभा बुलाकर महायान साम्प्रदाय को जन्म दिया था। उसने अपने यात्रा विवरण मे पजाब के राजा मिहिरकुल का भी उल्लेख किया है, जिसने पांचो खडों के बौद्ध भिक्षुओं को मार डालने की आज्ञा दी थी और कधार को विजय कर वहाँ के राजवंश को नष्ट कर डाला था। इसने बौद्ध सघारामो, स्तूपो और भिक्षुओं को नष्ट भ्रष्ट कर दिया

और सिध के तट पर तीन लाख बौद्धो का वध कराया था।

मथुरा मे इस समय भी बौद्ध धर्म का प्रचार था। वहाँ उसने २० सघाराम और दो हजार भिक्षुओं को उनमे पूजा उत्सव आदि करते देखा।

उसने गगा की प्रसशा सुनी जो पापो का नाश करने वाली प्रसिद्ध थी। हरिद्वार मे उसने एक देव मन्दिर भी देखा जिसमें बडे चमत्कार किये ज ते थे। हरि की पौडी उस समय पत्थर की निर्माण हो चुकी थी और उसमे स्नान करने का महात्म्य प्रसिद्ध हो चुका था।

कन्नौज उस समय गुप्त राजाओ की सुप्रसिद्ध राजधानी थी। यहाँ उसने बौद्ध और हिन्दुओ को समानावस्था मे पाया। यहां पर १०० सघाराम और १० हजार भिक्षु तथा २०० देव-मन्दिर और हजारो पुजारी उसने देखे। यहा के बौद्ध राजा शिलादित्य द्वितीय से भी उसकी भेंट हुई, जिसने गगा के पूर्वीय तट पर १०० फीट ऊचे स्तम्भ पर वुद्ध की मनुष्याकार सोने की मूर्ति स्थापित की थी।

वहाँ का वर्णन करते हुये वह लिखता है—'वसन्त ऋतु के तीन मास तक वह (शिलादित्य) भिक्षुओ और ब्राह्मणो को भोजन देता था। सघाराम से महल तक सब स्थान तम्बुओं और गवैयो की छोलदारियो से भर जाता था। वुद्ध की एक छोटी सी मूर्ति एक अत्यन्त सजे हुये हाथी पर रक्खी जाती थी और शिलादित्य इन्द्र की भाँति सजा हुआ उस मूर्ति की बाई ओर, और कामरूप का राजा दाहिनी ओर पाँच पाँच सौ युद्ध के हाथियो की रक्षा मे चलता था। राजा चारो ओर मोती, सोने चाँदी के फूल एव अनेक बहुमूल्य चीजे फेकता जाता था। मूर्ति को स्नान कराया जाता था और शिलादित्य उसे स्वय

कंधे पर रखकर पश्चिमी वुर्ज पर ले जाता था और उसे रेशमी वस्त्र और रत्न जटित भूषण पहनाता था। फिर भोजन और शास्त्र चर्चा होती थी।

हेनसाँग ने अयोध्या मे भी बौद्धो के १० मघ।राम और ३००० भिक्षु और वहुत से हिन्दुओ को देखा। प्रयाग में उसने हिन्दुओं का प्रावल्य देखा और गंगा यमुना के सगम पर सैकड़ो मनुष्यों को स्वर्गलाभ की लालसा मे मरते देखा। उसका कहना है कि नदी के वीच में एक ऊँचा स्तम्भ था जिस पर चढ कर लोग अस्त होते हुए सूर्यका दर्शन करते थे। श्रीवस्ती,कौशावी और काशी में भी उसने हिन्दुओं का प्रभुत्व पाया। काशी मे उसने ३० संघाराम, ३००० भिक्षुओं और १०० देव मन्दिर तथा १० हजार पुजारी देखे थे। यहाँ पर केवल महेश्वर को पूजा प्रचलित थी। महेश्वर की एक ताँवे की १०० फीट ऊँची मूर्ति थी। वह इतनी गम्भीर और तेजपूर्ण थी कि जीवित सो जान पड़ती थी। वहाँ उसने एक मनुष्याकार वुद्ध की मूर्ति भी देखी थी।

वैशाली मे उसने वौद्ध सघाराम को खडहरावस्था में पाया। वहाँ वहुत से देवमन्दिर वन चुके थे। मगध मे ५० संघाराम और दस हजार भिक्षुओ को देखा था। यहां हिन्दुओं के भी दस मन्दिर थे। पाटलीपुत्र इस समय उजाड़ हो चुका था। गया मे उसने ब्राह्मणो के कई हजार घर देखे। गया के बोधिवृक्ष और बिहार की अपूर्व शोभा इस यात्री ने देखी थी। वह लिखता है:—

"यह १६० या १७० फीट ऊंचा है और वहुत सुन्दर वेल वूटो का काम इस पर हुआ है। कहीं तो मोतियों से गुथी हुई मूर्तियां वनी हैं—कहीं ऋषियों या देवताओं की मूर्तियाँ हैं।

इन सबके चारो ओर तावे का सुनहला आमलक फल है। इसके निकट ही महाबोधि संघाराम का विशाल भवन है, जिसे लंका के राजा ने बनवाया है। उसकी ६ दीवारे तथा तीन खंड ऊंचे बुर्ज है। इसके चारों ओर ३०—४० फीट ऊंचे परिकोट है। इसमे शिल्प की बहुत भारी कला खर्च की गई है। बुद्ध की सोने चादी की मूर्तियां है और उनमे रत्न जडे है। वर्षा ऋतु मे यहा बौद्धो का बहुत भारी मेला लगता है, लाखो मनुष्य आते है और दिन रात उत्सव मनाते है।"

यह नालंद विश्वविद्यालय मे कामरूप के राजा के साथ कुछ दिन रहा था। यहा इसने बडे बड़े विद्वानो से बातचीत की थी। मुंगेर, पूर्वी बिहार तथा उत्तरी बंगाल मे बौद्धों के संघाराम और हिन्दुओ के देव मन्दिर दोनों ही समान रूप से विद्यमान थे। यहा से चलकर वह आसाम, मनीपुर, सिलहट आदि पहुंचा जहाँ बहुत से हिन्दू मन्दिर निर्माण हो चुके थे और बौद्धो का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था। यहाँ उसने एक भी संघाराम नही देखा।

वर्तमान मिदनापुर के निकट ताम्रलिप्त राज्य मे उसने जहाँ तहाँ संघाराम देखे। कर्ण सुवर्ण (मुर्शिदाबाद) मे उसने बौद्ध और हिन्दू दोनो ही पाये। उडीसा मे उसने १०० संघाराम और १० हजार भिक्षु देखे थे। पुरी का प्रसिद्ध जगन्नाथ का मन्दिर उस समय तक नही बना था। परन्तु हिन्दुओं के दस मन्दिर वहाँ बन गये थे। बौद्ध इस स्थान को अपनी रक्षा का एक मात्र स्थान समझते थे। पुरी मे आज भी बौद्धो के ढंग पर जगन्नाथ जी की रथ यात्रा निकाली जाती है। कलिंग राज्य मे बौद्ध धर्म का प्रचार नही था परन्तु बरार मे हिंदू, बौद्ध दोनो ही समान थे। यही पर प्रसिद्ध सिद्ध नागार्जुन रहता था। आंध्र

प्रदेश में उसने २० सघाराम और ३० देव मन्दिर देखे। द्राविड़ देश में बौद्धो का अब भी प्रभाव था। यहाँ १०० सघाराम और १० हजार भिक्षु थे। मालावार मे बौद्धो और हिन्दुओ को समानता थी। लका मे वह स्वय नही गया किन्तु उसने लिखा है कि वहा १०० बौद्ध मठ और २० हजार भिक्षु थे। महाराष्ट्र मे उसने अनेक बौद्ध सघाराम और अजन्ता को प्रसिद्ध गुफाओ को देखा। यहा ७० फीट ऊँची बुद्ध की मूर्ति थी। मालवा में उसने १००-१०० सघाराम और हिन्दू मन्दिर देखे। कच्छ गुजरात और सिध प्रदेशो में उसने सर्वत्र बौद्धो का पतन और मूर्तिपूजक हिन्दू धर्म का उत्कर्ष देखा था।

हेनसाँग का यह यात्रा विवरण मूर्तिपूजा के इतिहास पर फाहियान की भांति एक दूसरी अत्यन्त प्रामाणिक निष्पक्ष साक्षी है। जहाँ फाहियान का समय बौद्ध धर्म के उत्कर्ष और मूर्ति-पूजा का आदिम युग था, वहाँ हेनसाँग के यात्रा काल में बौद्ध धर्म का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था और हिन्दुओं के वर्तमान पौराणिक धर्म की जड जम चुकी थी। इस समय को हम बौद्ध और पौराणिक धर्म के सघर्ष का समय कह सकते हैं। बौद्धो का अनुसरण करते हुये हिन्दुओ मे भी मूर्तिपूजा प्रचलित हो चुकी थी और उनके सैकडों मन्दिर बन चुके थे।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि सबसे पहिले मूर्ति-पूजा जैन धर्म मे प्रारम्भ हुई और बौद्धों ने उसे जैनियो से और हिन्दुओं ने जैन एव बौद्धो से ग्रहण किया। जैन सम्प्रदाय के श्वेताम्बर शाखा वाले मूर्तिपूजा को जैन मत का अङ्ग नही मानते। वे दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा प्रचलित तीर्थंकरों की पूजा का निषेध करते हैं। उनका अभिमत है कि जैन धर्म-ग्रन्थों में मूर्तिपूजा का कहीं उल्लेख नही है। इसकी सम्पुष्टि में वे अपने

धर्म ग्रन्थो के अनेकानेक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। भारतवर्ष का इतिहास, भाग २, पृ० ३५० (मिश्रबन्धु) मे लिखा है–"सम्वत् ३४० वि० मे जैनियो के ओसवाल और श्रीमाल, ये दो विभाग हुए। इसी समय महावीर स्वामी जी की प्रतिमा उपकेशपत्तन मे स्थापित हुई। सम्भवत जैनो मे मूर्ति पूजा का आरम्भ इसी प्रकार हुआ।" परन्तु हमारा तात्पर्य तो यहा केवल इतना ही सिद्ध करना है कि हिंदू धर्म की वर्तमान मूर्ति पूजा बौद्ध-जैन काल की देन है, और इसका प्राचीन आर्य धर्म से कोई भी सम्बन्ध नही है।

फारसी भाषा का 'बुत' शब्द जो स्पष्टतया 'बुद्ध' का अपभ्रंश है, यह सिद्ध करता है कि न केवल भारतवर्ष अपितु ईरान आदि देशो मे भी सर्व प्रथम जिस मूर्ति की पूजा का प्रचार हुआ अथवा वहा के निवासी जिस मूर्ति के सम्पर्क मे आये वह मूर्ति 'बुद्ध' की थी। फलतः 'बुत' शब्द ही मूर्ति का पर्यायवाची बनकर फारसी भाषा मे प्रयुक्त होने लगा। अत 'बुत' शब्द भी यही सिद्ध करता है कि मूर्ति पूजा का प्रारम्भ बुद्ध की मूर्ति से हुआ और जहा जहा बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ वहाँ वहाँ मूर्ति पूजा भी प्रचलित होती गई।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'हिन्दुस्तान की कहानी' (The Discovery of India) मे ठीक हमारे ही उपर्युक्त विचारो की सम्पुष्टि की है। वह इस पुस्तक के भारत और यूनान (India and Greece) शीर्षक अध्याय मे पृष्ठ १७२ पर लिखते हैं.—

"यह एक मनोरजक विचार है कि मूर्ति पूजा भारत मे यूनान से आई। वैदिक धर्म हर प्रकार की मूर्ति तथा प्रतिमा-पूजन का विरोधी था। उस (वैदिक) काल मे देव मूर्तियो के किसी प्रकार के मन्दिर नही थे। कदाचित् पीछे के सम्प्रदायो मे

मूर्तिपूजा के कुछ चिन्ह पाये जाते है किन्तु यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि उसका इस देश मे विस्तृत प्रभाव नही था।

प्रारम्भिक बौद्धमत उसका घोर विरोधी था और बुद्ध की प्रतिमा तथा मूर्ति-निर्माण के विरुद्ध विशेष आज्ञाएं थी। यूनानी मूर्ति-कला का अफगानिस्तान और सीमान्त प्रदेश के चारों ओर अधिक प्रभाव था और यह शनै शनै: यहा भी प्रविष्ट हो गया। किन्तु इस पर भी प्रारम्भ में बुद्ध की मूर्ति न बना कर 'अपोलो' (यूनान का एक देवता) जैसी 'बोधिसत्वो' की ही मूर्तियाँ बनाई गई —जो बुद्ध के पूर्व अवतार माने जाते थे। पीछे से स्वयं बुद्ध की मूर्तियां निर्माण होने लगी। हिन्दू धर्म के कुछ सम्प्रदायों ने भी उनका अनुकरण किया, किन्तु वैदिक धर्म निरन्तर इस प्रभाव से मुक्त रहा। फारसी तथा उर्दू भाषा में प्रतिमा अथवा मूर्ति के लिये अब भी 'बुत' शव्द प्रयुक्त होता है, जो बुद्ध का रूपान्तर है।"

"It is an interesting thought that image-worship came to India from Greece. The Vedic religion was opposed to all forms of idol and image-worship. There were not even any temples for the god. There probably were some traces of image-worship in the older faiths of India though this was certainly not widely prevalent. Early Budhism was strongly opposed to it and there was a social prohibition against the making of image and statues of the Budha. But Greek artistic influence in Afghanistan and round about the frontier was strong and gradually it had its way. Even so, no statues of the Budha

7374

were made to begin with, but Appollo-like statues of Bodhisattavas (supposed to be the previous incarnations of the Buddha) appeared. These were followed by statues and images of the Buddha himself. This encouraged image-worship in some forms of Hinduism, though not in the Vedic religion which continued to be free of it. The word for an image or statue in Persian and in Hindustani still is 'But' (like put) derived from Buddha."

चीनयात्री फाहियान ने लिखा है, "सबसे पहले राजा प्रसेनजित ने बुद्धदेव की गोशीर्ष चन्दन की प्रतिमा बनाई। बुद्धदेव ने कहा—मरने के उपरान्त यह प्रतिमा चतुर्विध भिक्षु सघ के लिये आदर्श होगी।"

(फाहियान का भारत वृतान्त)

मूर्ति पूजा का आदि कारण:—

मूर्ति पूजा-प्रसार के, कालातर मे चाहे अनेक कारण बन गये हो, परन्तु मूल रूप मे उसके आदि-कारण केवल दो ही है – (१) पूर्व महापुरुषो की चिरस्थायी स्मृति रखने की लालसा तथा (२) अदृश्य वस्तु को भी मूर्तिमान देखने की अज्ञ जन समुदाय की उत्कण्ठा।

महापुरुपो और महात्माओ की मृत्यु के पश्चात् सर्व साधारण मे उनके प्रति सम्मान और श्रद्धा के भाव जागृत रखने के लिए, जिससे वे उनके सदुपदेशो एव आदर्शों को विस्मृत न करदे, उनके चित्रो अथवा प्रतिमूर्तियो का बुद्धिमान लोगो ने निर्माण किया। किन्तु अज्ञान अथवा स्वार्थवश, कुछ शताब्दियां व्यतीत होने पर उनका जीवित पुरुषो की भाँति पूजा-सत्कार प्रचलित हो गया और यह समझा जाने लगा की उनकी पूजा और उपासना मात्र से हमारे कष्ट दूर हो सकते हैं। महापुरुपों की

वास्तविक पूजा उनके पग-चिन्हो पर चलना है, इस तत्व को भुला दिया गया। उनकी प्रतिमूर्तियो के सम्मुख खड़े होकर उनसे सहायता के लिये याचना करना अथवा जीवितों की भाँति उनका स्नान, मार्जन, चदन-लेपन एव भोजन, भेंट सत्कारादि निरर्थक परिक्रियाएं केवल मनुष्य समाज के अज्ञान और अन्ध विश्वास की परिचायक हैं।

जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है, बौद्ध मूर्ति पूजा का सूत्र-पात ठीक इसी प्रकार हुआ है। जैन, बौद्ध दोनो ही अनीश्वरवादी थे। उनके समक्ष उनके आचार्यों के अतिरिक्त ईश्वर जैसा अन्य आदर्श नही था। मानव स्वभाव मे ईश्वरोपासना की भावना बीज रूप से निहित है। मनुष्य अल्पज्ञ और अपूर्ण है। वह असफलता और निराशावस्था मे, अपने से बलवान शक्ति की साहाय्य एव सामीप्य की आवश्यकता का अनुभव करता है। जिन सम्प्रदायो अथवा समाजो में ईश्वर-विश्वास का अभाव है, उनमें अपने आचार्यो अथवा नेताओ की मृत्यु के उपरान्त उनकी समाधियों और प्रतिमूर्तियो की पूजा मानव स्वभाव की उसी असहाय अवस्था की प्रतिक्रिया है। यही कारण है कि जैन और बौद्ध दोनों ही सम्प्रदायोंमे कुछ पीढियाँ बीतने पर उनके आचार्यो की मूर्तियो का पूजा-सत्कार इस प्रकार होने लगा, मानों वह अब भी जीवित हैं। बौद्ध काल के अन्त में हिन्दुओं ने जैन, बौद्धों का अनुकरण किया और अनेक वैदिक देवताओं की कल्पना के साथ साथ इन्होंने उनकी मूर्तियां भी निर्माण करली।

अज्ञ समुदाय निगूढ दार्शनिक विचारों के समझने की क्षमता नहीं रखता। उसकी प्रवृत्ति प्राय: इन्द्रियगोचर विषयों की ओर ही होती है। वह अदृश्य पदार्थों की भी मूर्तिमान् कल्पना करने मे ही सन्तुष्ट होता है। निराकार ईश्वर की तीन

शक्तियां ब्रह्मा विष्णु, महेश तथा मरुत, इन्द्र, वरुण, सरस्वती आदि अनेक प्राकृतिक पदार्थों की मूर्तिमान कल्पना, इस प्रवृत्ति का ही फल है। रोग और मृत्यु तक की भयानक मूर्तियों की व्युत्पत्ति, मनुष्य की इसी इच्छा का परिणाम है। विदेशी मूर्ति-पूजा का इतिहास भी ऐसी कल्पनाओ से परिपूर्ण है। वहां भी प्राकृतिक दैवो दुर्घटनाओ को देख कर उनके अधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना करली गई।

कुछ विद्वानो का मत है कि बौद्ध प्रचारको ने चीन, यूनान आदि प्रदेशों मे अनेक देवी–देवताओं की मूर्ति पूजा प्रचलित देखी और वे इस भावना को इस देश मे अपने साथ लाये। इसी प्रकार विदेशी लोगो के इस देश पर आक्रमण तथा हूण, किरात, आभीर आदि अनेक विदेशी मूर्ति–पूजक जातियो के सम्मिश्रण ने इस देश में न केवल मूर्तिपूजा के विचारो को ही जन्म दिया अपितु उनके अनेक देवी देवताओं की मूर्तिया यहाँ भी पूजी जाने लगी। चतुर स्वार्थी लोग सदा और सर्वत्र जन साधारण की अज्ञता से लाभ उठाया करते है। समय व्यतीत होने पर ऐसे ही लोगो ने मूर्तियो के अनेक चमत्कार दिखा कर उनमे दैवी शक्ति सिद्ध करना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार अनुचित एव दम्भपूर्ण उपायो द्वारा मूर्ति पूजा को धनोपार्जन का एक साधन बना लिया गया।

चाणक्य ने अपने कौटल्य अर्थ शास्त्र मे राजा तक को ऐसे ही उपायो द्वारा राज्य-कर–वृद्धि का अनुचित परामर्श दिया है। चाणक्य को सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधान मंत्री बताया जाता है और उसका समय भी बौद्ध कालान्तर्गत ही है। वह लिखता है:—

(१) पाखण्डसंघद्रव्यमश्रोत्रियभोग्य देवद्रव्यं वा कृत्यकराः

प्रेतस्य दग्धगृहस्य वा हस्ते न्यस्तमित्युपहरेयुः ॥४३॥

( ) देवाताध्यक्षो दुर्गराष्ट्र देवताना यथा स्वमेकस्थं कोशं कुर्यात् ॥४४॥ तथैव चापहरेत् ॥४५॥

(३) दैवत चैत्यं सिद्धपुण्यस्थानमौपादिकं वा रात्रावुथाप्य यात्रा समाजाभ्यामाजीवेत् ॥४६॥

(४) चैत्योपवन वृक्षेण वा देवताभिगमनमनार्तव पुष्पफल युक्तेन ख्यापयेत् ॥४७॥

(५) मनुष्यकरं वा वृक्षे रक्षोभय रूपयित्वा सिद्धव्यञ्जनाः पौरजानपदानां हिरण्येन प्रतिकुर्युः ॥४८॥

(६) सुरङ्गायुक्ते वाकूपे नाममनियतिशिरस्क हिरण्योपहारेण दर्शयेत् नागप्रतिमायामन्तश्छिद्रायाम् ॥४९॥

(७) चैत्यछिद्रे वल्मीकछिद्रे वा सर्पं दर्शनमाहारेण प्रति वन्वसज्ञ कृत्वा श्रद्दधानानां दर्शयेत् ॥५०॥

(८) अश्रद्दधानानामाचमनप्रोक्षणेषु रसमुपचाय्य देवता-भिसापं ब्रूयात् ॥५०॥

अर्थ—(१) किसी भी पाखण्ड से सघ का धन या देवधन जिसे श्रोत्रिय न भोगते हो कृत्यकार (उस्ताद) लोग यह कह कर कोष में पहुँचा देवें कि हमने वह धन किसी ऐसे के यहां रखा था जो मर गया अथवा जल गया।

(२) देवों के अध्यक्ष की भांति अपने कोष को बढ़ाए उसी प्रकार अपहरण करे।

(३) रात्रि में उठ कर कही पर देव मन्दिर या सिद्ध स्थान या कोई अद्भुत घटना खड़ी करके वहा यात्रा और समाज लगवा देवे और उनसे धन कमावे।

(४) यदि चैत्य वा वृक्ष में असमय फूल फल आवें तो देवता का आ जाना प्रसिद्ध करे।

(५) वृक्ष में किसी मनुष्य को छिपा कर, उसके द्वारा राक्षस का भय दिखला कर सिद्ध का स्वाग बनाये और पुर और देश-वासियो के स्वर्ण से उसका प्रतिकार करावे।

(६—७) सोना भेंट चढाने पर सुरङ्ग दाले कुए में नाग दिखलावे जिसका सिर बंधा रहे। श्रद्धालुओं को छिद्र युक्त नाग की प्रतिमा मे या मन्दिर या वल्मीक के छेद मे नाग का प्रत्यक्ष दर्शन करावे। पहले नाग को कुछ खिला कर सुस्त बना देवे।

(८) जो अश्रद्धावान हो उनके आचमन और छीटा देने के जल मे कुछ मिला देवे जिससे वेहोश होने पर देवता का कोप वतावे।

वर्तमान सुधार काल से पूर्व इस देश मे मूर्तियो के ऐसे चमत्कारो पर जनसाधारण का पूरा विश्वास था। लोग मूर्तियो के कोप से भयभीत रहते थे और पण्डे पुजारी उससे पूरा पूरा लाभ उठाते थे। आज भी अशिक्षित जनता मे इस प्रकार के मिथ्या विचार समूल नष्ट नही हुए है।

वैदिक काल और मूर्तिपूजा

अति प्राचीन काल से वेदों को आर्य लोग अपौरुपेय मानते चले आरहे है। अन्य सिद्धान्तो मे चाहे मतभेद हो किन्तु वेदों के अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय ज्ञान होने मे आर्य धर्म के सभी सम्प्रदाय एक मत है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, शास्त्र, स्मृति यहाँ तक कि पुराण भी जो आर्यधर्म के वर्तमान विकृत रूप का मूल कारण है, एक स्वर से इन्हे ईश्वरीय वाणी उद्घोषित करते है, और सृष्टि के आदि में मनुष्यो के प्रादुर्भाव के साथ ही चार ऋषियो पर इनका प्रकट होना वर्णन करते है।

पाश्चात्य विद्वान जिनमें बहुतो का विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त पर विश्वास है, तथा उनसे प्रभावित इनके अनुगामी भारतीय पडित, जो वेदो को अपौरुषेय नही मानते, कम से कम इतना मानने के लिये विवश हैं कि ऋग्वेद ससार की प्राचीनतम पुस्तक है।

पीछे वेदों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये उन्हे आधारभूत मान कर ऋषियो ने ब्राह्मण, उपनिषद्, एवं शास्त्रादि अनेक ग्रन्थों को रचना की। अत. हमने इन ग्रन्थो के रचनाकाल को भी जो वास्तव में सृष्टि उत्पत्ति काल से बहुत पीछे का समय है, वैदिक कालान्तर्गत परिगणन कर लिया है, और रामायण तथा महाभारत काल से पूर्व के समय को वैदिक काल मे ही समाविष्ठ किया है।

पूर्व के अध्याय मे हमने मूर्तिपूजा की आधुनिकता पर कुछ

प्रकाश डाला है । किन्तु मूर्तिपूजक हिन्दू सम्प्रदाय, मूर्तिपूजा को वेदशास्त्रानुकूल प्रतिपादन करने का समय समय पर प्रयत्न करते रहते है । अतः वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् एव शास्त्रो का इस सम्बन्ध मे क्या मत है तथा क्या वास्तव मे मूर्तिपूजा वेदशास्त्र अनुकूल है. इसी पर इस अध्याय मे कुछ विचार किया जायेगा।

मूर्ति शब्द वैदिक नही है अपितु लौकिक है, और जहाँ तक इस शब्द का सम्बन्ध है चारो वेदो मे यह कही भी प्रयुक्त नही हुआ । अमर कोष तृतीय काण्ड, नानार्थवर्ग ३. श्लोक ६६ पर लिखा है—मूर्ति. काठिन्य काययो:' । अर्थात 'मूर्तिः' यह एक नाम कठिनपने और शरीर का है । इस प्रकार 'मूर्ति' शब्दार्थ से सिद्ध है कि वह आकार वालो होनी चाहिये 'आकाराविङ्गिताकृती' । (अमरकोष ३ काण्ड; नानार्थ वर्ग ३, श्लोक १६२)'आकार आकृति को कहते है' । और आकृति वाली वस्तु साकार होती है । जिन मूर्तियो की पूजा की जाती है वे शरीरधारी साकार है और सोने, चाँदो, पीतल, ताँबा, लोहे, पत्थर, मिट्टी आदि कठोर धातुओ की बनी हुई होती है, अतः 'मूर्ति' शब्द का जो अर्थ ऊपर दिया गया है वह सगत हो है ।

हिन्दुओ मे जिन मूर्तियो को पूजा प्रचलित है वे या तो परमात्मा को तीन शक्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश की कल्पित मूर्तियाँ हैं या उनके अवतारो का है । अथवा देवताओ, देवदूतो और गुरुओ की है। बहुत सो मूर्तियाँ इनकी पत्नियो, पारिवारिकजनो, सेवको और वाहनो को है । शिव-पार्वतो जननेन्द्रिय की गर्हित आकृति 'शिवलिंग' पूजा भो भारतवर्ष मे सर्वत्र प्रचलित है ।

जिन मूर्तियो का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनमे एक भी परमात्मा को मूर्ति नही है । वेद स्पष्ट कहता है कि परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है:—

न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद्यश. ।
हिरण्यगर्भ इत्येष मामाहिँ सीदित्येषा
यस्यमान्न जात इत्येष । यजु० ३२ । ३ ॥

अर्थ—जिसका महान प्रसिद्ध यश है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नही है। हिरण्यगर्भ आदि मन्त्रो द्वारा तथा 'मा मा हिसीत्' इस मन्त्र से, और 'यस्मान्नजात' इन मन्त्रो से उसका वर्णन होता है। अर्थात् उक्त मन्त्रो द्वारा जिसके महान प्रसिद्ध यश का गायन हुआ है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नही है। महीधर ने भी इसका यही भाष्य किया है— तस्य पुरुषस्य प्रतिमा, प्रतिमानुपमान किञ्चिद्वस्तु नास्ति अतएव नाम प्रसिद्ध महत् यश यस्यास्ति सर्वातिरिक्त यश. । इत्यादि ।

अर्थात् उस परमात्मा की प्रतिमा, प्रतिमान, उपमान कोई वस्तु नही है, इसलिये महत् यश है जिसका, ऐसा वह सबसे अधिक यशवाला है।

उव्वटाचार्य ने भी इसके यही अर्थ किये है।

अत: जब उसकी कोई प्रतिमा, प्रतिमान, उपमान वस्तु ही नही है तब उसकी मूर्ति बन ही कैसे सकती है। यही कारण है कि जितनी भी मूर्तियाँ प्रचलित हैं, चाहे वह परमात्मा की शक्तियो की हो चाहे अवतारो की, किन्तु स्वय परमात्मा की एक भी नही है।

परमात्मा आकृति और शरीर रहित, निराकार है, अतएव उसकी प्रतिमूर्ति बनाई ही नही जा सकती। निम्न वेदमन्त्र परमात्मा के निराकार और अशरीरी होने का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन करता है।

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धं ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्

व्यदधाच्छाश्वतीभ्य. सामाभ्य. । यजु० ४०।८॥

अर्थ–वह ईश्वर सर्वव्यापक है। जगत्दुत्पादक, शरीर रहित, शारीरिक विकार रहित, नाडी और नस के बन्धन से रहित, पवित्र, पाप से रहित, सूक्ष्म-दर्शी, ज्ञानी, सर्वोपरि, वर्तमान, स्वयसिद्ध, अनादि, प्रजा के लिए ठीक ठीक कर्मफल का विधान करता है।

इस वेद मत्र मे परमात्मा को 'शरीर रहित' शारीरिक विकार रहित एव 'नाडी, नस के वधन से रहित' वताकर उसके साकारत्व का अत्यन्त निषेध किया है।

वेदो मे अनेक स्थलो पर परमात्मा का रूपक अलङ्कार द्वारा 'विश्वरूप' मे वर्णन किया गया है। उसे देख कर लोग वेदो मे ईश्वर का साकारत्व सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया करते है। ऐसे कुछ मन्त्र नीचे उद्घृत किये जाते हैं—

सहस्रशीर्पा पुरुप सहस्राक्ष सहस्रपात ।
सभूमिꣳसर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥यजु० ३१ ।१॥

अर्थ–सव प्राणियो के हजारो शिर, हजारो नेत्र, असख्य पाद जिसके वीच मे है, ऐसा यह परमात्मा भूगोल मे सव ओर से व्याप्त होकर, पाँच स्थूल, पाँच सूक्ष्म भूत जिसके अवयव है उस सव जगत को लाँघ कर स्थित है अर्थात सव मे और सव से प्रथक है।

इस मन्त्र मे परमात्मा को 'सहस्रशीर्प, 'सहस्राक्ष' और 'सहस्रपात्' अर्थात हजारो सिर, हजारो आँखे और हजारो पैर वाला अलङ्कार रूप से वर्णन किया गया है। सायण, महीधर, उदयन सभी भाष्यकारो ने इस मन्त्र का वही अर्थ किया है जो यहां ऊपर दिया गया है। सव प्राणियो के शिर, आँख, पग

आदि उसी परमात्मा के अन्दर विद्यमान हैं इसी से उसे हजारों शिर, आंखो और पैरो वाला कहा है।

ऋग्वेद का एक मन्त्र ईश्वरीय शक्तियो का ऐसी ही अलकृत भाषा में निम्न प्रकार से वर्णन करता है:—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोवाहुरुत विश्वतस्पात्।
स वाहुभ्या धमति सपतत्रैद्यावाभूमीजनयन् देव एक: ।। ऋ०
१०। ८१। ३।।

अर्थ—जिसके आँख सर्वत्र हैं, सर्वत्र मुख जिसके है, सर्वत्र जिसके बाहु कार्य कर रहे है, और सर्वत्र जिसके पॉव है। बाहुओ से और पावों से वह सब को चलाता है। इस प्रकार एक देव द्युलोक और पृथ्वी को उत्पन्न करता है। महीधर ने भी आँख, मुख, बाहु, पाँव आदि से उन उन शक्तियो का ग्रहण किया है, साकार इन्द्रियों का नही। उदयनाचार्य ने भी न्याय कुसुमांजलि मे इसके ऐसे ही अर्थ किये है। "विश्वतश्चक्षु' का अर्थ सर्वज्ञ, 'विश्वतोमुख' का सर्ववक्ता, 'विश्वतोबाहु' का सर्वसहकारिता, विश्वतस्पात्' का व्यापकता इत्यादि किया है।

अथर्वेद के कुछ मन्त्र ईश्वर के शरीर का इसी प्रकार अलकृत भाषा में वर्णन करते हैं:—

यस्यभूमि: प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिव यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम: ।।अ० १० ।७। ३२ ।।

भूमि जिसका पैर है और अन्तरिक्ष उदर है, द्युलोक को जिसने अपना शिर बनाया है, उस महान ब्रह्म को हमारा प्रणाम है।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णव:। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम. ।।३३।।

सूर्य और बार बार नया होने वाला चन्द्रमा जिसके नेत्र

है, अग्नि को जिसमे अपना मुख बनाया है, उस परम ब्रह्म को हमारा प्रणाम है।

यस्य वात. प्राणपानौ चक्षुरङ्गिमोभवन् । दिशोयश्चक्रे प्रज्ञानस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनम. ।।३४।।

वायु जिसका श्वासप्रश्वास है, अङ्गिरस (प्रकाशमान किरणे) जिसका नेत्र है, दिशाओ को जिसने ज्ञान का साधक (श्रोत्र) बनाया है, उस परम ब्रह्म को हमारा प्रणाम है।

वेद तथा वैदिक साहित्य मे परमात्मा के विराट रूप का ऐसी ही अलङ्कार युक्त भाषा मे अनेक स्थलों पर वर्णन है, किन्तु उससे किसी भी प्रकार ईश्वर का साकारत्व सिद्ध नही किया जा सकता। साधारण शिक्षित लोग भी ऐसी भाषा को समझते है और उसके वास्तविक अर्थों को जानते है। वेदार्थ को न समझने के कारण चाहे किसी भाष्यकार ने वेदो मे बहु देवता-वाद सिद्ध करने का प्रयत्न किया हो परन्तु किसी भी भाष्यकार ने वेदो मे मूर्तिपूजा प्रतिपादित नही की। यही कारण है कि अनेक प्रयत्न करने पर भी आज तक मूर्तिपूजा के पक्ष में वेदो का एक भी मन्त्र उपस्थित नही किया जा सका। जो मन्त्र उप-स्थित किये जाते है उनके अर्थ किसी भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन भाष्यकार ने मूर्तिपूजा परक नही किये।

उपनिषद् ब्रह्म विद्या के ग्रन्थ है। इनका वैदिक साहित्य मे बहुत ऊँचा स्थान है। यह भी ईश्वर के निराकारत्व का सर्वत्र पोषण एवं साकारत्व का सर्वथा निषेध करते हैं। इसकी पुष्टि मे कतिपय उद्धरण नीचे दिये जाते हैं:—

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विदमो, न विजानीमो, यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषा येनस्तद् व्याचचक्षिरे ।।केन १।३।।

न वहां आँख पहुँचती है. न वाणी जाती है और न मन, इसलिये उसको न जानते हैं न जान सकते है, जिससे उसका उपदेश किया जा सके। वह ज्ञात वस्तुओ से प्रथक है और अज्ञात से भी भिन्न है। ऐसा पूर्व आचार्यो से सुनते है, जो हमको उसका उपदेश करते है।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येनवागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥४॥ यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनोमतम्। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥५॥ यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंपि पश्यति। तदेव ब्रह्मत्व विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥६॥ यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रमिद श्रुतम्। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेद यदिदमुपासते ॥७॥ यत्प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

जो वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं होता, जिससे वाणी का प्रकाश होता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका वाणी से सेवन किया जाता है, वह ब्रह्म नही है ॥ ४ ॥ जिसका मन से मनन नही किया जाता, जिससे मन मनन करता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका मनसे मनन किया जाता है वह ब्रह्म नही है ॥५॥ जो आँख से नही देखा जाता, जिससे आँख देखती है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो आख से देखा जाता है वह ब्रह्म नही है ॥६॥ जो कान से नही सुना जाता, जिससे कान सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो कान से सुना जाता है वह ब्रह्म नहीं है ॥७॥ जो प्राण से प्राण के व्यापार में नही आता, जिससे प्राण अपना व्यापार करता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो प्राण के व्यापार में आता है वह ब्रह्म नही है ॥८॥

उपर्युक्त उपनिषद् वाक्यो में यह स्पष्ट शब्दों में बताया

गया है कि परमात्मा आकार रहित होने के कारण इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करने की वस्तु नही है ।

अशरीर शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति । कठ० १ । २।२२ ॥

वह परमात्मा लोगो के शरीर मे रहते हुये भी स्वय शरीर रहित है । बदलने वाली वस्तुओ मे एक रस है । उस महान विभु आत्मा को जान कर धीर पुरुष शोक मुक्त हो जाता है ।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययय तथारस नित्यमगन्धवच्चयत् । अनाद्यनन्तं महत: पर ध्रुव निचाय्य त मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ क० ३।१५

वह ब्रह्म शब्द नही, स्पर्श नही, रूप नही, इस प्रकार रस नही और न गन्ध वाला है । वह अविनाशी, सदा एक रस रहने वाला, अनुत्पन्न, सीमारहित, महत्तत्व से भी सूक्ष्म, अचल है । उसको निश्चयात्मक रीति से जान कर मनुष्य मौत के मुख से छूट जाता है ।

अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्यजन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मन ॥ क० २।२० ॥

ब्रह्म सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है, वडे से भी वडा है । वह इस प्राणी के हृदयाकाश मे स्थित है । उस आत्मा की महिमा को बुद्धि के निर्मल होने से निष्काम शोक रहित प्राणी देखता है ।

इन्द्रियेभ्य पर मनो मनस सत्त्वमुत्तमम् । सत्त्वादपि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ क०,६।७ ॥

अव्यक्तात्तु पर पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च । यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्व च गच्छति ॥क० ६।८॥

इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से सूक्ष्म अहंकार है। अहंकार से भी सूक्ष्म महत्तत्व है तथा महत्तत्व से भी सूक्ष्म प्रकृति और जीवात्मा है। जीव और प्रकृति से भी सूक्ष्म परमात्मा है जो कि व्यापक और चिन्ह आदि से रहित निराकार है। जिसको जान कर मनुष्य दुःखों से छूट जाता है और अमरत्व को प्राप्त होता है।

नसहृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्वितदुरमृतास्ते भवन्ति ।क० ६।९

इस ब्रह्म का कोई रूप सामने नही है और न आँखो से इसे कोई देख सकता है, यह हृदय, मन तथा बुद्धि से ज्ञात होता है। जो लोग इसे जानते है वह अमृत हो जाते हैं।

यत्तदहृश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं। नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्मं तद्भूतियोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ मु० १।१।६॥

जो परमात्मा न देखा जाता है न पकड़ा जाता है जिसका कोई गोत्र नही, वर्ण नही, जिसके न नेत्र है न श्रोत्र न हाथ न पांव हैं। वह नित्य है, व्यापक है, सर्वगत है और बड़ा सूक्ष्म तथा अव्यय है। उसी जगत के निमित्त कारण ब्रह्म को धीर पुरुष सर्वत्र देखते है।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यान्तरोऽजः अप्राणोह्यमन. शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः पर. ॥ मु० २।२।२

वह ब्रह्म निश्चय ही प्रकाशमान, मूर्तिरहित, सर्वव्यापक, वाहर और भीतर सर्वत्र वर्तमान, जन्मरहित. प्राण रहित, मन से शून्य, पवित्र, सूक्ष्म अविनाशी प्रकृति और जीव से सूक्ष्म है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कल ध्यायमानः—मु० ३।१।८॥

वह ब्रह्म आँख से ग्रहण नही किया जाता। उसे न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से, न तप से और न कर्म से ग्रहण किया जा सकता है। अपितु ज्ञान की महिमा से शुद्ध अन्तकरण वाला होकर ध्यान करता हुआ ही जीव उस कला रहित ब्रह्म को देख सकता है।

तिलेपु तैल दधिनीव सर्पिराप स्रोतस्वरणीपुचाग्निः एव मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैन तपसा योऽनुपश्यति ॥श्वे० १।१५॥

जैसे तिलो मे तेल, दही मे मक्खन, स्रोतो में जल और अरणियो मे अग्नि, पे-ने, बिलोने, खोदने और रगडने से प्राप्त होती है, इसी प्रकार परमात्मा आत्मा मे ग्रहण किया जाता है यदि कोई सत्य और तप से उसे ज्ञान दृष्टि से देखता है।

सर्वव्यापिनमात्मन क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्। आत्मविद्यातपोमूल तद्ब्रह्मोपनिपत्परम् ॥श्वे० १।१६॥

वह सर्वव्यापी दूध मे मक्खन की तरह सब मे समाया हुआ है। आत्म विद्या और तप उसकी प्राप्ति का मूल है। वह ब्रह्म, उपनिषद् का परम रहस्य है।

सर्वत पाणिपाद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुख। सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्व-मावृत्यतिष्ठति ॥श्वे० ३।१६॥

सब जगह उसके हाथ और पाँव हैं, सब जगह उसके नेत्र शिर और मुख है। सब जगह उसके कान है और वह लोक मे सबको घेर कर स्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशान सर्वस्यशरण वृहत् ॥श्वे० १।१७॥

सारे इन्द्रियो के गुणो को प्रकाश देता है. परन्तु सारी इन्द्रियो से रहित है। वह सबका स्वामी, सब पर शासन करने वाला तथा सबका शरण है।

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षु' सशृणोत्यकर्ण. ।
सवेत्ति वेद्य' न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुषं महान्तम्

श्वे० ३।१६

वह बिना हाथ के सबका ग्रहण करने वाला तथा बिना पांव के वेग वाला है। बिना नेत्र के देखता और बिना कान के सुनता है। वह हर एक जानने योग्य वस्तु को जानता है पर उसका अंत जानने वाला कोई नही। ज्ञानी लोग उसको मुख्य महान पुरुष कहते है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म' कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम् ज्ञात्वाशिव' शान्तिमत्यन्तमेति ।।

श्वे० ४।१४।।

वह ईश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। वह इस जगत् और उसके प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है। उसी ने इस विश्व और उसके रूप वाले पदार्थो को रचा है वह सारे संसार को घेरे हुए है। उसी कल्याण स्वरूप प्रभू को जान कर मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है।

न तस्य कार्यं करण' च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधै व श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च ।।

श्वे० ६।८।।

उसका कोई कार्य नही, उसके इन्द्रियादि करण नही। उसके समान और न उससे कोई अधिक है। उसकी शक्ति सबसे महान है। उसमें ज्ञान, वल तथा कार्य करने की शक्ति स्वभाव से है।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिंगम् ।
स कारण' करणाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।।

श्वे०६।६।।

लोक मे कोई उस परमात्मा का पति नहीं, न उस पर कोई

शासन करने वाला है और उसका न कोई चिन्ह है। वह जगत का निमित्त कारण है। वह इन्द्रियो के स्वामी जीवात्माओ का भी स्वामी है। वह न किसी से उत्पन्न हुआ है और न उसका कोई स्वामी है।

उपर्युक्त समस्त उपनिषद् वाक्य जहाँ परमात्मा को सुस्पष्ट रूप मे निराकार वर्णन करते हैं वहा यह भी बताते हैं कि उसे शुद्ध अ त.करण से ध्यान द्वारा ही जीवात्मा मे ग्रहण किया जाता है। अतएव "मूर्तिपूजा ईश्वर प्राप्ति का साधन है" इस युक्ति का भी स्वतः निराकरण हो जाता है। वेद भी ईश्वर प्राप्ति की इसी विधि की निम्न शब्दो मे निरूपण करते हैं:—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य वृहतो विपश्चित:, ।
विहोत्रादधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितु: परिष्टुति: ।
ऋ० ५।८१।१

युक्ते मनसा वय देवस्य सवितु सवे, स्वर्ग्याय शक्तया ।
यजु० ११।२

युजेवा ब्रह्मपूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पश्येव सूर.
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आपे धामानि दिव्यानि नस्थु ।
यजु० ११।५

अर्थात वडे बड़े यज्ञ याग करने वाले और विद्वानो से भी अधिक विद्वान अपना मन और वुद्धि उस एक ही महान देवाधिदेव परमात्मा मे युक्त करते हैं। पूरी शक्ति से हम लोग स्वर्गीय सुखो के लिये अपने मन को सविता देव मे जोडते हैं। सव लोग यह वात कान खोल कर सुनले कि पूर्वजो ने योग वल से ही प्रकाश मार्ग से यात्रा की है, इसलिये जो योग करेगा, ब्रह्म मे मन लगायेगा वही इस उत्तम गति को प्राप्त होगा।

वुद्धिवाद, अर्थात तर्क और युक्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है, दर्शन शास्त्रो का वैदिक साहित्य में सर्वोच्च स्थान है। वैदिक

साहित्य ही क्यों, यदि यह कहा जाय कि दर्शन शास्त्र ससार में प्रचलित बुद्धिवाद के उद्‌गम है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। दर्शनों मे आज से हजारो वर्ष पूर्व जिन सूक्ष्म तत्वो पर विचार किया गया है वे अब भी पाश्चात्य विज्ञान की पहुँच से परे हैं। इनकी अद्भुत शृंखलाबद्ध तर्क शैली ससार को चकित किये बिना नही रह सकती। इन भारतीय बुद्धि-भंडार में से कुछ रत्न जिनमे ईश्वर के स्वरूप पर विचार किया गया है, वेदान्त दर्शन से उद्‌धृत करते हैः—

पत्युरसामञ्जस्यात् । वे० २ ।२। ३७।। सम्वन्धानुपपत्तेश्च ।३८ ।। अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।३९।। करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।४० ।। अन्तवत्वमसर्वज्ञतावा । ४१ ।। उत्पत्य सभवात् । ४२ ।। न च कर्त्तुर्कः करणम् ।४३ ।। विज्ञानादिभावे तदप्रतिषेध. ।। ४४ ।। विप्रतिषेधाच्च-।-४५ ।।

युक्ति शून्य होने से परमात्मा का साकार होना ठीक नही। ३७।। साकार ईश्वर का जगत के उपादान प्रकृति के साथ सम्बन्ध न बन सकने के कारण भी उक्त 'साकारवाद' पक्ष ठीक नही। ३६।। साकार वस्तु के लिये स्थान की आवश्यकता होती है, परन्तु परमात्मा का कोई एक स्थान नही अत' वह साकार नही। ३९।। यदि परमात्मा को इन्द्रियो वाला माना जाय तो हमारी तरह उसे भी सुख दु:खादि भोग की आपत्ति होगी। अतः वह साकार नही। ४० ।। यदि परमात्मा को देहधारी माने तो अन्त वाला मानना पड़ेगा और असर्वज्ञ ठहरेगा। अल्पज्ञ मानने से वह परमात्मा नही हो सकता ।।४१।। ईश्वर का जन्म असम्भव होने से भी उक्त पक्ष की सिद्ध होती है ।। ४२ ।। परमात्मा कर्ता के कोई करण (इन्द्रियादि) नही है ।। ४३ ।। परमात्मा में सर्वज्ञादि धर्म पाये जाने से एक रस होने के कारण उसकी उत्पत्ति

नहीं हो सकती । ४४ ॥ साकार और निराकार दोनों का विरोध होने से निराकार परमात्मा साकार नही हो सकता । ४५ ॥ अरूपवदेव हितत्प्रधानत्वाद् । ३ । २ । १४

निराकारता बोधक वाक्यो की प्रधानता पाए जाने से भी परमात्मा निराकार है ।

तदव्यक्तमाहही । वे० ३ । २ ।२३

निश्चय करके व्रह्म को अव्यक्त कथन किया गया है।

अदृश्यत्वादिगुणकी धर्मोक्तेः । वे० १ । २ । २१ ॥

निराकारादि उसके धर्म कहे जाने से परमात्मा अदृश्यत्वादि गुणो वाला है ।

ईश्वर-निराकारत्व विषयक वेदान्त दर्शन के जो सूत्र ऊपर दिये गये है वे किसी टीका टिप्पणी की अपेक्षा नही रखते । इन सूत्रो मे विस्पष्टरूप मे ईश्वर को निराकार सिद्ध किया गया है और उसकी सिद्धि में अनेक तर्क पूर्ण युक्तियाँ दी गई है।

"ईश्वर-प्राप्ति का क्या साधन है ?" इस विषय पर पतञ्जलि मुनि ने एक अपूर्व ग्रथ की जो 'योग-दर्शन' के नाम से सुप्रख्यात है, प्रथक ही रचना की है · इस दर्शन मे चित्त की वृत्तियो को रोकना, अर्थात् वाह्य विषयो से चित्त को हटा कर जीव का अपने स्वरूप मे स्थित हो जाना इत्यादि, जीव तथा ईश्वर के योग (मिलाप) का साधन वताया गया है —

योगश्चितवृत्तिनिरोध । समाधिपाद ॥ २ ॥ तदा द्रष्टु. स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥ योग चित्त की वृत्तियो के रोकने को कहते हैं ॥२॥ तब द्रष्टा (जीव) की अपने रूप मे स्थिति हो जाती है ॥ ३ ॥ विस्तारभय से यहाँ अधिक नही लिखा जा रहा। "मूर्ति पूजा और योग साधन," इस विषय पर इस पुस्तक में अन्यत्र एक पृथक अध्याय लिखा गया है । अतः इस सम्वन्ध मे वही विचार किया जायगा ।

मनुस्मृति—जो मानव धर्म शास्त्र के नाम से सुप्रसिद्ध है आर्य जाति की एक अमूल्य निधि है। भगवान मनु ने जिन वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक कर्तव्याकर्तव्य कर्मों का सार्वभौमिक रूप मे इस ग्रन्थ में उपदेश दिया है, वे आज भी मनुष्य समाज मे पथ प्रदर्शन की क्षमता रखते हैं। मनुस्मृति के आरम्भ में ही सृष्टि-उत्पत्ति-विषय पर विचार करते हुए ईश्वर के स्वरूप का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। यहा पर भी परमात्मा को अचिन्त्य, अप्रमेय, अनादि, इन्द्रियातीत, परमसूक्ष्म, आकाररहित उपलक्षणो वाला बताया गया है।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य निधानस्य स्वयभुव.। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्य तत्त्वार्थ वित्प्रभो ॥३॥ अ० १।

क्योंकि सम्पूर्ण वेद के कार्य के यथार्थ प्रयोजन के जानने वाले आप (मनु) एक ही है। जो वेद कि अचित्य, अप्रमेय अनादि परमात्मा का विधान है ॥३॥

ततः स्वयभूर्भगवान व्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्। महा भूतादिवृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुद. ॥६॥ योसाऽवतीन्द्रियग्राह्य. सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः सर्वभूतमयोऽचित्य स एव स्वयमुद्वभौ ॥७॥ अ० १।

इस दशा के अनन्तर उत्पत्तिरहित और इन्द्रियों से न जानने योग्य प्रकृति को प्रेरणा करने वाले, महत्तत्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि कारणो के बल से युक्त परमात्मा ने इनको प्रकाशित करके अपने को प्रकट किया ॥ ६ ॥ जोकि इन्द्रियों से नही जाना जाता और परमसूक्ष्म, नित्य और सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त तथा आकार रहित, अतएव अचिन्त्य है, वही अपने आप प्रकट हुआ ॥७॥

इन श्लोको मे परमात्मा के प्रकट होने का अभिप्राय जगह अथवा विराट रूप में प्रकट होने से है। इनकी शैली वैसी ही

अलंकारयुक्त है जैसी कि वेद के कुछ मत्रो की पूर्व दी जा चुकी है। आगे के श्लोकों मे इसी प्रकृति रूपी शरीर से सृष्टि-उत्पत्ति का सविस्तार वर्णन किया गया है। मनुस्मृति के छटवे अध्याय में भी योग द्वारा ही ईश्वर प्राप्ति का वर्णन किया है वैसे अनेक स्थलो प चयज्ञादि नित्यकर्मो का सबको उपदेश किया गया है:-

सूक्ष्मता चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मन: ।६५। अ० ६ ।।

योग से परमात्मा की सूक्ष्मता का ध्यान करे।

प्रियेषु स्वेषु सुकृतम् प्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ।। ७९ । अ० ६ ।।

अपने प्रिय में सुकृत और अप्रिय में दुष्कृत को छोडकर ध्यानयोग से सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है

मनुस्मृति को आद्योपान्त पढने पर सहज ही में कोई यह अनुमान लगा सकता है कि इस ग्रन्थ मे बहुत कुछ पीछे से सम्मिश्रण किया गया है। इसमे इतने परस्पर विरोधी स्थल है जिन्हें देखकर दूसरों का हस्ताक्षेप स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इस प्रकार यज्ञो में पशुबलि, मदिरा माँस भक्षण, जन्मगत वर्णव्यवस्था, मृतक श्राद्ध आदि वाममार्ग कालीन कुप्रथाओ का समर्थन परन्तु साथ ही उनके विरोध सूचक अनेक श्लोको की विद्यमानता एव प्रधानता इसके प्रबल प्रमाण है। इन प्रक्षिप्त भागो के होते हुए भी समस्त मनुस्मृति मे मूर्तिपूजा अथवा अवतारवाद के समर्थन मे एक भी श्लोक ढूढे नही मिलता। अत. परिणाम पर पहुँचने मे कोई कठिनाई नही रहती कि मूर्तिपूजा का जन्म-काल मनुस्मृति के प्रक्षिप्त-काल से भी कही पीछे का है। हाँ, प चयज्ञविधि-संध्या, अग्निहोत्र आदि एवं ओङ्कार तथा गायत्री जाप को आवश्यक नित्यनैमित्तिक कर्म बताया है, जिससे

मूर्तिपूजा का, हमारी दैनिक विधि में, स्वयमेव खण्डन हो जाता है। मनुस्मृति के ऐसे कुछ श्लोक हम नीचे देते है:—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥४।२१॥

संध्या, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, वलिवैश्व, अतिथि तथा पितृयज्ञ को यथाशक्ति कभी न छोड़े और सदा करता रहे।

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौच. समाहित: ।
पूर्वां सन्ध्यां जपस्तिष्ठेत्स्वकाले चापराचिरम् ॥४।६३

ब्राह्म मुहूर्त में उठकर और आवश्यक कार्य मलमूत्र त्याग आदि करके, शुद्ध और सावधान होकर प्रात:काल की और यथा समय दूसरे काल की सन्ध्या देर तक करे।

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशो: सदा ।
दर्शने चार्द्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥४।२५॥

दिन और रात्रि के आदि मे नित्य अग्निहोत्र करे और अर्ध-मास के अन्त में आमावास्या और पूर्णिमा को यजन करे।

मङ्गलाचारयुक्त: स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रिय: ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रित: ।४।१४५॥

उत्तम आचार से युक्त होकर, एवं सयत आत्मा तथा जितेन्द्रिय होकर नित्य निरालस्य होकर जप करे और अग्निहोत्र भी करे।

पूर्वां सन्धाजपस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमांतु समासीन: सम्यगृक्षविभावनात् ॥२।१०१॥

प्रात:काल की सन्ध्या, गायत्री का जाप करता हुआ, सूर्य-दर्शन होने तक स्थित होकर और सायंकाल की सन्ध्या नक्षत्र दर्शन होने तक बैठकर करे।

ओंकारपूर्विकास्तिस्रोमहाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपाच्चैवसाविश्री विज्ञेयं ब्रह्मणोमुखम् ॥२।८१॥

ओङ्कार से युक्त तीन अविनाशी महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री वेद का मुख है।

योऽधीतेऽहन्येतास्त्रीणिवर्षाण्यतन्द्रित. ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूत: खमूर्तिमान् ॥२।८२॥

जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यरहित होकर तीन वर्ष पर्यन्त ओं, व्याहृति और गायत्री का जप करता है, वह परब्रह्म को प्राप्त होता है और वायुवत शरीरबधन से मुक्त हो जाता है।

ऊपर दिये गये वेद, उपनिषद् एव शास्त्रों के विविध उद्धरणो से यह भली प्रकार सिद्ध है कि ईश्वर निराकार है और इन्द्रियो का विषय नही है। तव उसकी प्रतिमा अथवा मूर्ति वन ही कैसे सकती है ? इन उद्धरणो से यह भी सिद्ध है कि समस्त वैदिक साहित्य मे मूर्तिपूजा को कही और किसी भी अवस्था मे ईश्वर प्राप्ति का साधन नही बताया गया। अतएव वेदशास्त्रो के नाम पर जो लोग मूर्तिपूजा का प्रचार करते हैं, उन्होने या तो उनका भलीभाँति अनुशीलन नही किया या फिर पक्षपात एव स्वार्थवश सचाई पर पर्दा डालना चाहते है।

मूर्तिपूजा और अवतारवाद

जिस समय मूर्तिपूजा की कल्पना की गई उस समय यह भी आवश्यक हुआ कि ईश्वर को साकार सिद्ध किया जाय। क्योंकि बिना साकार सिद्ध किये उसकी मूर्ति अथवा प्रतिमा बन ही कैसे सकती है। अत उसकी पूर्ति ब्रह्मा-विष्णु-महेश, ईश्वर के तीन साकार रूप कल्पित करके की गई। ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह एक ही ईश्वर के तीन गुणवाचक नाम हैं। परमात्मा सृष्टि रचता है, अतः उसका नाम ब्रह्मा, सृष्टि का पालन करता है. अत विष्णु और सहार करता है, इसलिये महेश अथवा रुद्र हैं। यह तीनो कोई पृथक शरीरधारी ईश्वर अथवा उसकी साकार शक्तिया नही है, अपितु उपर्युक्त तीनों गुणो के आधार पर हम ईश्वर को तीनो ही नामो से पुकारते हैं।

इसी प्रकार वेदो मे ईश्वर के अनेक गुणवाची नामो का वर्णन है। जिन्हे आगे चलकर लोगो ने अज्ञान-वश पृथक-पृथक ईश्वर अथवा देव समझ लिया। कवियो ने उनका गुणगान किया, चित्रकारो ने उनके चित्र बनाकर अपनी कला का परिचय दिया और अन्त में मूर्तिकारो ने उनकी मूर्तियाँ निर्माण करदी। जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, इसमें कोई दोष भी नही, किन्तु कालान्तर में जब स्वार्थ अथवा अज्ञान-वश इनकी जीवित महापुरुषो के समान भेंट-पूजा का प्रचार चल पडा और जन साधारण की सन्तुष्टि के लिये उनमे प्राण प्रतिष्ठा एवं चमत्कारो का आरोप किया गया, उसी समय से उसका घोर दुरुपयोग प्रारम्भ हो गया।

वर्तमान हिन्दू समाज में अवतारवाद, निराकार परमात्मा को साकार बनाने की एक दूसरी कल्पना है। ईश्वर निराकार तो है किन्तु अवतार धारण करके साकार शरीरी भी बन जाता है, और जिन मूर्तियो की पूजा की जाती है, वे उन्ही अवतारों की प्रति मूर्तिया हैं, ऐसा सर्वसाधारण का मत है। इस प्रकार देखा जाय तो अवतारवाद और मूर्तिपूजा का जुडवां भाई बहन का सा घनिष्ट सम्बन्ध है और बहुत अशों मे यह एक दूसरे पर आश्रित है।

ईश्वर इस पृथ्वी पर शरीर धारण करके क्यो अवतरित होता है ? उसे इसकी क्या आवश्यकता होती है ? इसके लिये भी पुराणो मे, जिनके लेखक ही वास्तव मे मूर्तिपूजा के जन्मदाता है और जिनका समय भी मूर्तिपूजा की भाति केवल कुछ हजार वर्ष ही है, अनेक रोचक कथाओ तथा उपाख्यानों द्वारा अनेक कल्पनायें की गई है। पुराणो मे चौबीस, जिनमे मुख्य दस है, अवतारो की कल्पना की गई है। इनमे कुछ को छोडकर सब ही को विष्णु का पूर्ण अथवा आशिक अवतार माना गया है। कुछ अवतार नर रूप है, जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, शकर इत्यादि और कुछ पशु रूप हैं, जैसे कच्छ, मच्छ तथा सूकर। किन्तु इन समस्त अवतारो मे विष्णु की प्रधानता यह सिद्ध करती है कि इस वाद की कल्पना का सूत्रपात्र वैष्णवो द्वारा किया गया।

अवतारवाद के पक्ष मे जो युक्तिया दी जाती हैं, वे बहुत निर्बल और लचर है। प्रथम तो निराकार और साकार एक वस्तु के दो विरोधी गुण हो ही नही सकते। ईश्वर या तो निराकार है या साकार। यदि उसका भी जीव की भाति शरीर धारण करना मान लिया जाय, तो ईश्वर भी ईश्वर न रह कर जीव ही बन जाता है।

ईश्वर को क्या आवश्कता अनुभव हुई, जिससे उसे शरीर धारण करना पड़ा ? इस प्रश्न के उत्तर मे प्राय गीता के प्रसिद्ध श्लोक जो हिन्दुओ मे एक लोकोक्ति बन गये है —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मान सृज्याम्यहम् ।।७।।
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।८ अ० ४ ।

उद्धृत किये जाते है । इसी प्रकार श्रीमद्‌भागवत जो वैष्णव सम्प्रदाय का मूल ग्रथ है, का निम्न श्लोक भी यही आशय प्रकट करता है.—

यदा यदा हि धर्मस्य क्षयोवृद्धिश्च पाप्मान् ।
तदातु भगवानीश आत्मान सृजते हरि ।।५६।। स्क० ६ अ० २४।

उपर्युक्त श्लोकों का यही भाव हैं कि जब-जब धर्म का क्षय होने लगता है और पाप बढ जाता है, तब-तब भद्र पुरुषों की रक्षा करने एवं धर्म के स्थापनार्थ परमात्मा अवतार लेता है। किन्तु देवी भागवत मे जो शाक्त सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मुख्य पुराण है इस युक्ति की तीव्र आलोचना की गई हैः—

माया विमोहिता मन्दा प्रवदन्ति मनीषिणः ।
करोति स्वेच्छयाविष्णुरवताराननेकशः ।।४७।।
मन्दोऽपि दुःखगहने गर्भवासे ऽतिसंकटे ।
न करोति मनि विद्वान् कथं कुर्य्यात् स चक्रभृत् ।।४८।।
कौसल्या देवकीगर्भे विष्ठामल समाकुले ।
स्वेच्छया प्रवदंत्यद्धागतो हि मधुसूदन. ।।४६।।
वैकुण्ठमदन त्यकत्वा गर्भवासे सुखं नु किम् ।
चिन्ताकोटिममुत्थाने दुखदे विपसंमिते ।।५०।।
(देवी भागवत स्कं० ३ अ० २६)

अर्थात् माया से मोहित हुये मूर्ख विद्वान् कहते है कि विष्णु अपनी इच्छा से अवतार लेता है। मूर्ख मनुष्य भी दु:ख से परिपूर्ण कष्ट युक्त गर्भवास की इच्छा नही करता पुन: वह चक्रधर विष्णु कैसे कर सकता है ? लोग कहते है कि मलमूत्र से पूर्ण कौसल्या और देवकी के गर्भ मे विष्णु स्वेच्छा से गया। भला बैकुंठ को छोडकर कोटि चिन्ताओ को उत्पन्न करने वाले कष्टदायक विषतुल्य गर्भवास मे सुख ही क्या है ?

इसी प्रकार अन्य पुराणो मे भी अवतार का कारण वर, शाप और शुभाशुभ कर्म बतलाया है। शरीर की उत्पत्ति के लिये जिन बातों की आवश्यकता है वह परमात्मा मे नही घटती। आत्मा, देह, इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध का नाम जन्म है। जन्म से सुख दुःख हुआ करता है। जन्म के लिये धर्माधर्म रूप कारण का होना, धर्माधर्म के लिये प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के लिये रागद्वेष और रागद्वेप के लिये मिथ्याज्ञान होना आवश्यक है। परन्तु परमात्मा से मिथ्याज्ञान का सर्वथा अभाव है अत उसका जन्म असम्भव है। महामुनि पतजलि ने—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुपविशेप ईश्वर· ॥यो० १।२४॥

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग द्वेप, अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से उत्पन्न होने वाले कर्म और कर्मफल एव वासना से जो रहित है, वही ईश्वर है—इस सूत्र मे भी इसी बात को स्पष्ट किया है।

कुछ लोग समझते है कि जिस प्रकार जीवात्मा विना शरीर के कार्य करने मे असमर्थ है, उसी प्रकार ईश्वर भी विना शरीर धारण किये सृष्टि रचना नही कर सकता, किन्तु लोग भूल जाते हैं कि जीव एक देशीय है और ईश्वर सर्वव्यापक है। जो शक्ति प्रत्येक परमाणु के भीतर व्याप्त है, उसके लिये इन

परमाणुओं को गति देने के लिए किसी बाह्य कारण अथवा अवयव की आवश्यकता नही। जोव को एक देशीय होने के कारण शरीरादि साधनो की आवश्यकता है किन्तु परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, अतः उसे बाह्य साधन अपेक्षित नही।

वास्तव में यदि हम निष्पक्ष होकर विचारें तो अवतारवाद ईश्वर की महत्ता पर एक कलङ्क है, जो ईश्वर सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है, उसे साधुओ की रक्षा और दुष्टों के विनाशार्थ जन्म मरण के बधन मे आने की आवश्यकता ही क्या है ? जो परमात्मा रावण, कसादि दुष्ट राक्षसो के जन्म देने की सामर्थ्य रखता है, क्या वह उनका बिना शरीर धारण किये विनाश नही कर सकता ? बनाना बिगाड़ने से दुष्कर है। अत. दुष्टो का विनाश करने के लिए उसका शरीर धारण करने की कल्पना ही सर्वथा निर्मूल एव निराधार है। ससार का इतिहास साक्षी है कि प्रत्येक काल और प्रत्येक देश मे दुष्ट आततायी होते रहते है और उनका राजा अथवा ससार के वीर पुरुषो द्वारा विनाश भी होता रहता है। इसके लिये ईश्वरावतार की आवश्यकता ही क्या है ? कौनसा कार्य है जिसे ईश्वर विना शरीर धारण किये नही कर सकता ?

जो लोग राम, कृष्ण आदि महान् ऐतिहासिक पुरुषो को ईश्वरावतार बताते हैं, सत्य तो यह है कि जहां एक ओर वे इन्हे ईश्वरावतार बताकर उनके पराक्रमयुक्त कार्यों का महत्व घटाते है, वहाँ दूसरी ओर जन-साधारण को इनके इन कार्यों से प्रोत्साहन ग्रहण करने में भी बाधक सिद्ध होते है। यदि राम ईश्वर है तो उनका कोई भी कार्य महत्वपूर्ण नही। ईश्वर के लिये तो यह कार्य नितान्त साधारण है। यही बात अन्य अवतारो लिये भी कही जा सकती है। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि

जो पराक्रम राम अथवा कृष्ण ने किये है, वे ईश्वरीय कार्य है तो उसे उनके अनुकरण करने का साहस ही उत्पन्न नही होता। वह अपने को एक तुच्छ जीव समझ कर अपनी असमर्थता का अनुभव करता है। अवतारवाद का सिद्धान्त, मूर्तिपूजा की भाति ही हिन्दुओ को नपुंसक बनाने मे बहुत कुछ सहायक सिद्ध हुआ है। इसी का परिणाम है कि ससार की जातिया अपने बाहुबल से कही की कही पहुंच गई किन्तु अभागी हिन्दू जाति हाथ पर हाथ रक्खे कल्कि अवतार की आज भी बाट देख रही है। इस प्रकार इस 'वाद' से लाभ के स्थान पर एक ऐसी हानि हो रही है जिसकी पूर्ति बिना इस मिथ्या विचार को हटाये नही हो सकती।

वेद, उपनिषद्, शास्त्र सभी ईश्वर को अजन्मा एव निर्विकार प्रतिपादन करते है। सब ही उसको जीवन मरण के बधन से मुक्त बताते है.—

अजो नक्षा दाधार पृथ्वी तस्तम्भ द्या मन्त्रेभि: सत्यै। प्रिया पदानि पश्वो निपाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहगा। ऋ० १।६७।३

अर्थ —जैसे अज अर्थात् न जन्म लेने वाला अजन्मा परमेश्वर न टूटने वाले विचारो से पृथिवी को धारण करता है, विस्तृत अन्तरिक्ष तथा द्यौलोक को पकड़े हुए है। प्रीतिकारक पदार्थों को देता है। सम्पूर्ण आयु देने वाला, बन्धन से सर्वथा छुडाता है। बुद्धि मे स्थित हुआ वह गोप्य पदार्थ को जानता है। वैसे तू भी हे विद्वान् जीव हमे प्राप्तव्य की प्राप्ति करो।

शन्नो अज एक पाद्देवोऽस्तु शन्नोऽहिर्बुध्न्य शं समुद्र'।
शन्नो अपा नपात्पेरुरस्तु शन पृश्निर्भवतु देवगोपा.॥
ऋ० ७।३५।१३

एक पात् अजन्मा परमात्मा हमारे लिये कल्याणकारी होवे। अन्तरिक्ष में होने वाले मेघ हमारे लिये कल्याणकारी हो। समुद्र सुखदायी हो। पाद रहित होकर जलो को पार करने वाली अर्थात नौका आदि हमारे लिये सुखकारक हो। सूर्यादि की रक्षा करने वाला अन्तरिक्ष हमारे लिये सुखकारी हो।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर जायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।
यजु० ३१। १९ ।।

अपने स्वरूप से उत्पन्न न होने वाला अजन्मा परमेश्वर, गर्भस्थ जीवात्मा और सबके हृदय मे विचरता है। और बहुत प्रकारो से विशेष कर प्रकट होता है। उसके स्वरूप को धीर लोग सब ओर देखते हैं। उसमे सब लोक लोकान्तर स्थित है।

ब्रह्म वा अज:। शतपथ० ६।४।४।१५।
ब्रह्म ही अजन्मा है।

उपनिषदो में भी परमात्मा को स्थान-स्थान पर अजन्मा वर्णन किया गया है:—

वेदाहमेतमजर पुराणं सर्वात्मान सर्वगत विभुत्वात्।
जन्म निरोध प्रवदन्ति यस्य ब्रह्म वादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्।
श्वे० ३। २१ ।।

मैं उस ब्रह्म को जानता हूं जो पुराना है और अजर है। सबका आत्मा और विभु होने से सर्वगत है। ब्रह्मवादी जिसके जन्म का अभाव बतलाते है क्योकि वह नित्य है।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवं।
विरज: पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुव: ।।
बृ० ४।४। २७

इस अविनाशी अप्रमेय ब्रह्म को एक ही प्रकार से देखना

चाहिए, यह मल से रहित, आकाश से परे, जन्म रहित आत्मा महान् अविनाशी है।

दिव्योह्यमूर्त्त पुरुष स वाह्याभ्यन्तरोह्यज ।

अप्राणोह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात् परत पर ॥मुण्ड०॥ २।१।

वह दिव्य पुरुष विना मूर्ति के है, वाहर और अन्दर दोनो जगह विद्यमान है। विना प्राण और मन के हैं। शुभ्र है और अव्यक्त प्रकृति के परे है।

अज ध्रुव सर्वतत्वैर्विशुद्ध ज्ञात्वा देव मुच्यते ज्ञात्वा सर्वपाशै ॥

श्वे० २।४

अजन्मा ध्रुव सारे तत्वो से अलग परमात्मदेव को ब्रह्म तत्वदर्शी जानकर पाशो से छूट जाते है।

स वा एप महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतो ऽभयो ब्रह्म ।

वृ० ४।४।२५॥

वह महान अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अभय, अमृत ब्रह्म है।

दर्शनशास्त्र भी परमात्मा को अजन्मा ही वताते हैं.—

उत्पत्यसभवात्। वेदान्त २।२।३१

ईश्वर के जन्म का असम्भव पाये जाने से उसका कोई कर्त्ता नही।

न च कर्त्तु करण। वे० २।२।४०

और न उस कर्त्ता परमात्मा का कोई करण इन्द्रियादि है।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्य । वे० २।२

इस पर श्री स्वा० शकराचार्य का भाष्य देखने योग्य है—

लोकदृष्ट्यनुसारेण ईश्वरस्यापि किञ्चित्करणं नामायन शरीरं कामेन कल्प्यते। एवमपि नोपपद्यते। स शरीरत्वे हि सति ससारी वद् भोगत्वप्रसगादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्व प्रसज्येत्।

अर्थात् लोक दृष्टि के अनुसार परमात्मा का भी इन्द्रियों का अधिष्ठान यदि शरीर माने तो ठीक नही क्योकि ईश्वर के शरीर वा इन्द्रियादि मानने से उसे भी ससारी जीवों की तरह सुख दु:ख भोक्ता मानना पडेगा और ऐसा मानने से ईश्वर भी अनीश्वर हो जायगा।

अवतारवाद के खडन मे जितने भी प्रमाण यहाँ उद्धृत किये गये है, वे किसी टीका टिप्पणी की अपेक्षा नही रखते। समस्त प्राचीन वैदिक साहित्य इस वाद का सर्वथा निषेध करता है। अत: सिद्ध हैं कि वैदिक काल से बहुत पीछे जब मूर्ति पूजा की सृष्टि की गई तो ईश्वर को साकार सिद्ध करने के लिये अवतारवाद की कल्पना की गई।

कुछ लोग वेद शास्त्रो में 'मूर्तिपूजा न करो' अथवा 'ईश्वर अवतार नही लेता' इस प्रकार विरोध सूचक स्पष्ट मन्त्रो का अभाव बताकर यह भ्रम उत्पन्न करने का प्रयत्न करते है, कि यदि वेद शास्त्रों मे इनका समर्थन नही है तो विरोध भी नही है। किन्तु लोग यह भूल जाते हैं कि किसी वस्तु का स्पष्ट निषेध, उसके प्रचार के पीछे उसके दोष देख कर ही सम्भव है। जब जो वस्तु प्रचलित ही नही थी, तब उसका निषेध कैसा ? जैसा कि हम सिद्ध कर चुके है, मूर्तिपूजा और अवतारवाद का जन्मकाल वैदिक काल से बहुत पीछे का है। अतएव यदि वैदिक साहित्य मे उनका स्पष्ट निषेध अथवा विशेष खडन नही है, तो इसमे न कोई आश्चर्य है और न कोई दोप है।

मूर्तिपूजा और बहुदेवतावाद

मूर्तिपूजा का एक अन्य आधार बहुदेवतावाद की कल्पना भी है। जैसा कि हम पहले लिख चुके है, वेदो मे ईश्वर के अनेक गुणवाची नामो का उल्लेख है। लोगो ने भूल से उनमे पृथक-पृथक देवो की कल्पना करली और उनकी मूर्तिया बना कर पूजी जाने लगी।

भारतवर्ष के धार्मिक साहित्य में 'देव' शब्द को न समझने से अनेक भ्रान्तिया उत्पन्न हो गई है। 'देव' शब्द 'दिवु' धातु से बना है जिसके अनेक अर्थ हैं—क्रीडा, व्यवहार, द्युति, मोद, स्वप्न, विजिगीषा, स्तुति, मद, कान्ति तथा गति। इस प्रकार कोई भी पदार्थ जो उपर्युक्त अर्थवाची हैं 'देव' है। वैदिक सस्कृत मे एक-एक शब्द अनेकार्थवाची था किन्तु दीर्घ कालान्तर मे वह रुढि और एकार्थवाची बन गया। 'देव' शब्द भी उन्ही मे से एक है। देव के उपरिलिखित अर्थों मे एक अर्थ 'द्युति'—'प्रकाश युक्त' भी है, अत. जहाँ इसका अर्थ 'ईश्वर' तथा 'विद्वान्' वाची हुआ वहाँ 'सूर्य', 'चन्द्र' आदि प्रकाशयुक्त जड़ पदार्थ भी होता हैं। प्राचीन वैदिक निरुक्तकार यास्काचार्य ने 'देव' शब्द के निम्नार्थ किये हैं:—

देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानोभवतीति वा। निरुक्त अ० ७, ख० १५॥

'जो देवता हैं वा प्रकाश करता है वा प्रकट करता है अथवा जो प्रकाश का पुञ्ज हैं, वह देव हैं'। इस प्रकार दानदाता देव हैं। सत्युपदेष्टा आचार्य विद्वान्, माता-पिता देव है। सूर्य, चन्द्रादि प्रकाशयुक्त लोक भी देव है। स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका, 'वेद विषय विचार' के अन्तर्गत 'देव' शब्द के अनेक अर्थ लिखे है:—

अत्र परिगणन गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञ यज्ञ: यज्ञाङ्ग प्रजापति परमेश्वर नरा: काम विद्वान्, अतिथि. माता पिता आचार्य्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवता सन्ति।

गायत्र्यादि छन्दो से युक्त मन्त्र, ईश्वराज्ञा, यज्ञ और उनके अङ्ग, राजा, परमेश्वर, मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता पिता और आचार्य।

एक स्थान पर यजुर्वेद में इन्द्रियो को देव कहा है:—

नैनद् देवा आप्नुवन्। यजुर्वेद ४०।४'।

इन्द्रियाँ उस परमेश्वर तक नही पहुँच सकती।

अत: जब देव शब्द के अनेक अर्थ हैं, तो वेदों मे इसे बहुवचन में प्रयुक्त हुआ देख कर यह कहना कि वेदो से 'बहुदेवनावाद' सिद्ध होता है, सर्वथा अनुचित है।

वेदों में सूर्य, चन्द्र, बिजली, पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों के लिये देव शब्द प्रयुक्त हुआ देख कर, लोगो ने यह धारणा बनाली कि वेदों में इनकी पूजा का विधान है। किन्तु वास्तविकता यह हैं कि इन स्थलों पर उनकी पूजा का सकेत मात्र भी नही है। जब देव के अर्थ केवल ईश्वर अथवा किसी दिव्य पदार्थ के अधिष्ठातृ-देव यथा—मेघ का इन्द्र, जल का वरुण, सूर्यलोक का सूर्यदेव, इत्यादि निश्चित रूप से समझे जाने लगे

तो लोगों को यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि वेदो मे बहुदेवतावाद और उन देवो की पूजा का विधान है। आगे चलकर इसी कल्पना के आधार पर उन-उन देवो की मूर्तिया बनाली गई और उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई। किन्तु जैसे-जैसे मूर्तिपूजा आय का एक अच्छा साधन सिद्ध होने लगी, वैसे-वैसे प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु का एक पृथक अधिष्ठातृ-देव कल्पित कर लिया गया और उस देव की मूर्ति निर्माण करके उसकी पूजा प्रचलित कर दी गई। जन साधारण हिन्दुओ की आज भी यह धारणा है कि नदी, पहाड, अग्नि, वायु आदि समस्त प्राकृतिक जड पदार्थों के पृथक्-पृथक् अदृश्य अधिष्ठातृ देव है। पुराणो मे इनकी पूजा का स्थान स्थान पर वर्णन है। किन्तु यह अधिष्ठातृ देव क्या है कैसे हैं और कहाँ है? इसकी कभी कोई जानने की चिन्ता नही करता। क्या आत्मा की भाँति उनकी कोई चेतन सत्ता है? निश्चय ही उनकी कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए, क्योंकि जड वे हो नही सकते। फिर क्या वह ईश्वर की भाँति सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान् और कर्मफल दाता है? यदि उन्हे सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान् और कर्मफल दाता मान लिया जाय तो फिर इनमे और ईश्वर मे क्या भेद है? अथवा वे अजर अमर है? इत्यादि प्रश्नो का कोई निश्चयात्मक उत्तर नही दिया जा सकता।

पुराणो मे साधारण मनुष्यो की भाँति देवो का पारस्परिक युद्ध, ईर्षा, द्वेष पूर्ण अनेक कथाओ का वर्णन है, जो बहुदेवता-वाद का स्वाभाविक परिणाम है। कुछ लोगो की धारणा है कि जिस प्रकार राज्य प्रबन्ध के लिये अनेक कर्मचारियो की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सृष्टि को नियम मे रखने के लिये अनेक देवताओ की आवश्यकता है। किन्तु यह स्व

ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा सर्वशक्तिमत्ता को न समझने से ही उत्पन्न होता है। राजा एक देशीय होने से सर्वज्ञाता नही है और अल्प शक्ति रखने के कारण प्रजा पर अकेला शासन भी नही कर सकता, अत: उसे अपनी सहायता के लिये अनेक राज्य-कर्मचारियो की आवश्यकता होती है। किन्तु ईश्वर सर्वव्यापक होने से सब कुछ जानता है और सर्वशक्तिमान होने से उसे अपने कार्य के लिये किसी अन्य शक्ति की सहायता की आवश्यकता नही।

अब प्रश्न यह है कि जब वेदों में इन देवो की पूजा का कहीं विधान नही है तो फिर यह भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया? जैसा कि हम पूर्व लिख चुके है, वैदिक भाषा मे एक शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त होता था, किन्तु आगे चलकर उनके अर्थ सीमित हो गये और वेद मत्रो के कुछ के कुछ अर्थ समझे जाने लगे। इसी प्रकार ईश्वर के भी अनेक गुण होने से उसके अनेक गुणवाची नामों का वेदों मे उल्लेख है। ऋग्वेद में कहा भी है:—

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद्विप्रा वहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहु:।
ऋग०।?।१६४ ४६।।

एक सद्वस्तु परमात्मा को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान, यम तथा मातरिश्वा आदि नाम देते हैं। अर्थात् इन नामो से उस एक ही वस्तु का वर्णन होता है।

यजुर्वेद मे ईश्वर को अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा शुक्र आदि कहा गया है:—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा:।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आप: स प्रजपति:।। य०३२।१

अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति इन शब्दो द्वारा परमात्मशक्ति का बोध होता है। अर्थात् प्रकाश स्वरूप होने से उस परमात्मा का नाम अग्नि, कभी विनाश न होने से आदित्य, जगत् का धारण तथा जीवन होने से वायु, आनन्द स्वरूप होने से चन्द्रमा, अत्यन्त पवित्र होने से शुक्र, सबसे बडा होने से ब्रह्म तथा प्रजा का पालन करने से प्रजापति है। इस प्रकार स्वय वेदो से अनेक प्रमाण दिये जा सकते है, जिनमे ईश्वर के लिये अनेक ऐसे नाम प्रयुक्त हुए हैं, जिनका जीवधारी मनुष्य, एवं प्राकृतिक पदार्थों के लिये भी प्रयोग होता है। किन्तु दुर्भाग्यवश हमने उनको अनेक देवता समझ लिया और ईश्वर के स्थान मे उनकी पूजा प्रारम्भ करदी। आज भी हम ईश्वर को माता, पिता, बन्धु, सखा आदि अनेक नामो से सम्बोधन करके उसकी प्रार्थना करते हैं किन्तु उससे यह भ्रम किसी को नही होता कि हम अपने माता, पिता, बन्धु आदि की स्तुति अथवा प्रार्थना कर रहे है। इसी प्रकार वेदो मे जहाँ-जहाँ सूर्य, चन्द्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, वायु आदि की स्तुति, प्रार्थना का प्रसङ्ग है, वहाँ उससे तात्पर्य परमात्मा की स्तुति प्रार्थना ही समझना चाहिए, जड जगत् की वस्तु नही।

वेदो मे केवल एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन है, इसे आज योरुप के विद्वान् भी स्वीकार करने पर विवश हुए हैं और सायणाचार्य आदि वेद भाष्यकारों की शैली तक का, जिसके आधार पर बहुत से पश्चिमी विद्वान् वेदो मे बहुदेवतावाद की प्रतिच्छाया देखते हैं, खडन करते है।

मिस्टर राय ने अपने प्रसिद्ध कोप के पहिले भाग के ४-६ पृष्ठो से जो लिखा है उसका सार हम नीचे देते हैं —

वह लिखते है, वेदार्थ का उद्देश्य सायणादि कृत अर्थों का ग्रहण करना नही है अपितु उन अर्थों का जो वैदिक ऋषियो के मन मे थे, ढूंढ निकालना है। सायणादि अपने समय के विचारों के प्रतिबिम्ब वेदो मे देखते है—सत्य वेदार्थ प्राय. सभी विद्वान् चिरकाल से भूल गये थे, अत: अपने-अपने समय के धार्मिक विचारो का समावेश वेदार्थ मे करने आये है। इसी प्रकार मि० ह्विटनी (Whetenay), जे० म्यूर (J Muir) तथा वैबर (Weber) ने अपने ग्रन्थो मे राथ के उपर्युक्त विचारो का समर्थन किया है।

भारतवर्ष के धार्मिक जगत् में युगान्तर उपस्थित करने वाले बीसवी शताब्दि के प्रसिद्ध सुधारक तथा वेद भाष्यकार स्वामी दयानन्द ने तो अपने वेद भाष्य तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में प्रबल प्रमाणो द्वारा सिद्ध किया है कि वेदो मे केवल एक ईश्वर पूजा का ही प्रतिपादन है और बहुदेवता-वाद का सर्वथा निषेध है। इसी प्रकार वर्तमान समय के प्रसिद्ध विचारक श्रीयुत् अरविंद घोष ने स्वा० दयानन्द और सायणाचार्य की भाष्यशैली की तुलनात्मक समालोचना करते हुए स्वा० दयानन्द का समर्थन किया है और लिखा है:—

"यहाँ स्वा० दयानन्द का विचार बिल्कुल स्पष्ट और अखडनीय है कि वेद एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं जिसके प्रमाण "एक सद्विप्राबहुधा वदन्ति" इत्यादि सहस्रो वेद मत्र है, जो सारे वेद मे स्थान-स्थान पर पाये जाते है। इत्यादि-इत्यादि।

परमात्मा एक ही है, इस विषय की पुष्टि मे कुछ स्पष्ट वेद मत्र नीचे उद्धृत किये जाते है:—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥१६॥
न पचमो न षष्ठ: सप्तमो नाप्युच्यते ॥१७॥

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।१८॥

ईश्वर न दूसरा है न तीसरा है न ही चौथा कहलाता है। १६। न पाँचवा है, न छटा है, न सातवाँ ही कहलाता है ।१७॥ न आठवाँ है न नवाँ है न ही दसवाँ कहलाता है ।१८॥

तमिद निगतं सह. स एप एक एकवृदेक एव। अथर्व० १३।४

वह सर्व शक्ति है, वह एक है, एकवृत और एक है।

मूर्तिपूजा और रामायणकाल

रामायणकाल का ठीक-ठीक समय निश्चय करने में तो इतिहासिकों मे मतभेद हो सकता है, किन्तु यह सर्वमान्य है कि रामायण मे वर्णित ऐतिहासिक घटना महाभारत से दीर्घकाल पूर्व घटी। यह वह समय था जब वैदिक मर्यादा तथा आर्य-सस्कृति का लोप नही हुआ था। किन्तु इतना स्पष्ट है कि मांसाहार, सुरापान आदि आसुरी प्रवृत्तियो का सूत्रपात होगया था। वैदिक कर्म काण्ड मे प्रवृत्त ऋषि, मुनियो के यज्ञो को मासादि अपवित्र वस्तुओ से विध्वस करने की दुष्ट चेष्टा प्रारम्भ हो गई थी। यदि देखा जाये तो इन्ही वैदिक यज्ञों एवं सस्कृति की रक्षार्थ उस समय जो कुछ प्रयत्न किया गया, वही रामायण की कथा का मुख्य कथानक है।

इस समय रामायण सम्बन्धी जितनी भी सामग्री अनेक ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध है, उस सबका आधार, ऋषि वाल्मीकि कृत रामायण ही है। किन्तु आज जितनो भी वाल्मीकि रामायणे मिलती है उनके काण्ड, सर्ग और श्लोक-सख्या-विभिन्नता तथा अनेक अप्रासगिक एवं प्रकृति नियम विरुद्ध स्थलों को देखते हुए यह सब ही मानते है कि अन्य ग्रन्थो की भांति इस ग्रन्थ में भी प्रक्षिप्त सामग्री की न्यूनता नही है। इस समय वाल्मीकि रामायण की दो प्रकार की प्रतियां मिलती है, एक गौड़ वा वंग देश की और दूसरी वम्वई की। वम्वई की प्रति में वग

देश की प्रति से एक काड (उत्तरकाण्ड) ९३ सर्ग तथा ४७३५ श्लोक अधिक है। इटली भाषा मे संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान गोरी-सियो (Gorreseo) कृत रामायण का जो अनुवाद मिलता है, उसमे भी उत्तरकाण्ड रहित केवल छः काण्ड है। इसी प्रकार चम्पू रामायण जो महाराज भोज के समय बनी थी और जिसमे वाल्मीकि रामायण का सार लिखा है युद्धकाण्ड तक ही है। युद्ध काण्ड समाप्ति पर स्वय वाल्मीकीय -रामायण मे रामायण का माहात्म्य वर्णन किया गया है जो कि किसी ग्रन्थ के आदि या अन्त मे ही लिखा जाता है, सिद्ध करता है कि उत्तरकाण्ड का समावेश पीछे से किया गया है ।

इस प्रकार उपर्युक्त स्पष्ट प्रक्षिप्त भागो के होते हुये भी समस्त रामायण मे सर्वत्र केवल वैदिक यज्ञो का वर्णन है, मूर्तिपूजा का कही कोई उल्लेख नही है। मनुस्मृति की भाति वाल्मीकि रामायण मे भी माँसाहार एव यज्ञ मे पशुबलि दी जाने की पुष्टि तो कुछ प्रक्षिप्त श्लोको द्वारा अवश्य की गई है, जिसमे वाममार्ग का स्पष्ट हाथ दृष्टिगोचर होता है, किन्तु मूर्तिपूजा विषयक् श्लोको का सर्वथा अभाव, यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि जिस समय यह प्रक्षिप्त भाग मिलाये गये, उस समय भी इस देश मे मूर्तिपूजा जारी नही हुई थी। अतः हमारी यह धारणा कि मूर्ति-पूजा का प्रचार इस देश मे बौद्ध काल से पूर्व नही था, निराधार नही है।

वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड से निम्न श्लोक मूर्तिपूजा के पक्ष मे प्राय. उपस्थित किया जाता है —

यत्र यत्र स्मयातिस्म रावणो राक्षेश्वर.।
जाम्बूनदमयं लिग तत्र तग्रस्म नीयते ॥

रावण जहा-जहा जाता था, अपने साथ सुवर्णमय लिङ्ग ले

जाता था। इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि 'वालुकावेदिमध्यें तु तल्लिंग स्थाप्य रावण' अर्थात् वालू की वेदि पर रावण ने लिंग की स्थापना की इत्यादि। प्रथम तो यह श्लोक उत्तरकाण्ड के हैं, जिसे हम अनेक प्रमाणों द्वारा प्रक्षिप्त भाग सिद्ध कर चुके है। किन्तु इन्हें यदि ठीक मान भी लिया जाए तो यह कृत्य राक्षसी था। यह भी ठीक ही है कि शिवलिंग पूजा का प्रचार वाममार्ग द्वारा हुआ और रावण भी वाममार्गी ही था। अतः इससे हमारे पक्ष की हानि नही होती।

उस समय आर्य लोग प्रातः सायं संध्योपासना, अग्निहोत्र करते थे, इसका वाल्मीकि रामायण मे बहुलता से वर्णन है। विश्वामित्र ने राम, लक्ष्मण से कहा कि:—

'स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम' (१८ सर्ग २३ वालकाण्ड) हम लोग स्नान करेंगे और जप करेंगे हवन करेंगे।

तथैव गच्छतस्तस्य व्यपाद्रजनी शिवा।
उपास्य तु शिवां संध्यां विषयानत्यगाहत। २।

सर्ग ४६, अयोध्याकाण्ड

उसी प्रकार चलते हुये रामचन्द्र को वह कल्याणमयी रात वीत गई। प्रातः काल की सध्या करके वे आगे दूसरे देश मे गए।

ततश्चीरोत्तरासङ्गः संध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम्। ४८।

सर्ग ५०, अयो० काण्ड

तदनन्तर रामचन्द्र ने चीर ओढ़ कर सायकाल की सध्या की और लक्ष्मण का लाया हुआ जल ही ग्रहण किया।

राम ने लक्ष्मण से कहा.—

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुत्तमम्।

अग्नेर्भगवत केतु मन्ये सहितो मुनि । ५ ॥

सर्ग ५४, अयो० काण्ड

प्रयाग के पास भगवान अग्नि की ध्वजा, सुगन्ध धूम देखो, इससे प्रतीत होता है कि मुनि यही हैं, कही वाहर नही गए।

इसी प्रकार भरत, शत्रुघ्न के भी हवन और जप करने का उल्लेख है —

रजन्या सुप्रभातायां भ्रातस्ते सुहृद्‌वृता ।
मन्दाकिन्या हुत जप्य कृत्वा राममुपागमत् ।२ ।

सर्ग १०५, अयो० काण्ड

रात्रि के बीतने पर वे भाई मित्रो के साथ मंदाकिनी तीर पर स्नान, हवन और जप करके रामचन्द्र के पास आये।

इसी भाति ऋषि, मुनियों द्वारा अग्निहोत्र करने का भी वर्णन हैः—

वास चक्रुर्मुनिगणाः शोणाकूले समाहिता ।
तेऽस्त गते दिनकरे स्नात्वा हुतहुताशना । २० ॥

सर्ग ३१ । बालकाण्ड

सूर्य के अस्त हो जाने पर स्नान करके उन मुनियो ने अग्निहोत्र किया। सीता महारानी भी सध्या करती थी—हनुमान जी सीता की खोज करते हुए अशोक वाटिका के सरोवर को देखकर कहते है.—

सन्ध्याकालमना श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी ।
नदी चेमा शुभजला सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी । ५० ।
यदि जीवति सा देवी ताराधिपति मानना ।
आगमिष्यति साऽवश्यमिमांशीतजला नदीम् ।५१॥

सर्ग १४। सुन्दरकाण्ड

संध्या काल में मनवाली देवी सीता संध्या करने के लिये इस शुभ जल वाली नदी पर आवेगी। यदि वह चन्द्रमुखी देवी जीवित है तो इस शीतल जल वाले सुरम्य सरोवर पर अवश्य आवेगी।

उपर्युक्त समस्त उद्धरण इतने स्पष्ट है कि किसी टीका-टिप्पणी की अपेक्षा नही रखते। इनसे सिद्ध है कि रामायण-काल वेदप्रतिपादित यज्ञादि का काल था और उसमे कही भी मूर्तिपूजा के लिये कोई स्थान नही।

कैसे आश्चर्य की बात है कि भगवान राम स्वयं संध्योपासना और अग्निहोत्र करें किन्तु उनके भक्त उनकी मूर्तिपूजा करके अपने आपको कृतकृत्य समझे। भगवान बुद्ध के भक्तो ने भी उनके आदेशो पर न चल कर उनको मूर्ति की पूजा प्रारम्भ कर दी थी। परन्तु बौद्ध नास्तिक थे, उनके समक्ष उनका कोई उपास्य देव नही था, अतः उन्होने यदि ऐसा किया तो अस्वाभाविक नही है। दुःख तो राम के भक्तो पर है, जिन्होने आस्तिक होते हुये भी राम के आदेशों को न अपना कर उनके स्थान पर उनकी मूर्ति की पूजा प्रचलित करदी।

तुलसीकृत रामायण मे कुछ स्थलो पर मूर्तिपूजा का वर्णन, श्री तुलसीदास जी की अपनी निजी कल्पना है। वह स्वयं वैष्णव थे, अतः यह स्थल केवल उनके अपने विचारो के ही प्रतिबिम्ब हैं, उनका आधार वाल्मीकिकृत रामायण नही। न सीता जी ने स्वयं वर के समय देवी की जाकर पूजा की और न राम ने सेतु-बन्ध के अवसर पर रामेश्वर में शिवलिंग की स्थापना अथवा पूजा की। वाल्मीकीय रामायण मे इतना वर्णन है कि लंका से विमान द्वारा लौटते समय राम ने सीता से संकेत करके कहा कि यहाँ महादेव की कृपा से हमने समुद्र का पुल बांधा था:—

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मन ।
सेतुबन्ध इतिख्यातं त्रैलोक्यपरिपूजितम् ॥२०॥
एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
अत्र पूर्वं महादेव प्रसादमकरोद्विभु. ॥ २१ ॥
(युद्धकाण्ड सर्ग १२५)

यह बडे समुद्र का तट दिखाई पड रहा है, इसे सेतुबन्ध कहते हैं, यह तीन लोक मे प्रसिद्ध है। यह परम पवित्र स्थान है, यहाँ पापी महापातको का प्रायश्चित करते हैं। यहाँ ही सर्वव्यापक देवो मे बडे, महादेव परमात्मा ने हम पर कृपा की। उपरोक्त श्लोको में कही भी शिवलिंग स्थापना तथा उसके पूजन की बात नही है। सम्भवत महादेव शब्द, जिसके अर्थ देवो मे महान्-परमात्मा है, को देखकर तुलसीदास जी ने शिवलिंग स्थापना एव उसकी पूजा की कल्पना करली।

जैसा कि हम पूर्व लिख चुके है मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का आधार आधेय सम्बन्ध है, किन्तु वाल्मीकीय रामायण से राम का ईश्वरावतार होना भी सर्वथा असिद्ध है। समस्त रामायण मे राम को कही भी ईश्वरावतार नही लिखा। हा कही-कही, विष्णु के समान अथवा विष्णु का अ श अवश्य लिखा है। किन्तु यदि हम विचारपूर्वक इन स्थलो को देखे तो यह पीछे से मिलाये हुए प्रतीत होते है। अन्यथा स्वय भगवान राम ने अनेक स्थानो पर अपने आपको मनुष्य ही उद्घोषित किया है। रामचन्द्र सीता से कहते हैं—

या त्व विरहिता नीता चलचित्तेन रक्षसा ।
दैव सम्पादितो दोषो मानुषेण मया जित. ॥५॥

जो तू चलायमान चित्त वाले राक्षस रावण ने हर ली गई थी, यह दैवकृत दोष था, जो मुझ मनुष्य ने जीत लिया।

यत्कर्त्तव्यं मनुष्येण धर्षणा प्रतिमार्जिता ।
तत्कृतं रावणं हत्वा मयेदं मानकांक्षिणा ॥१३॥
(युद्ध कां० सर्ग ११५)

शत्रु द्वारा किये गये अपमान को मिटाने के लिये मनुष्य को जो कुछ करना चाहिये वह मैंने मान चाहते हुये रावण को मार कर किया।

आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ॥१३॥
(युद्ध कां० स० ११७)

मैं अपने को मनुष्य समझता हूँ, मैं दशरथ-पुत्र राम हूँ।

इसी प्रकार ऋषि नारद ने वाल्मीकी मुनि से राम के गुण वर्णन करते हुये कहा कि राम पराक्रम में विष्णु के समान है, यह नहीं कहा कि विष्णु है अथवा विष्णु अवतार है:—

आर्य्यः सर्वसमश्चैव सदैक प्रियदर्शनः ।
स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः ॥ १६ ॥
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ।
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः ॥१७॥
बालकाण्ड-स० १

वह आर्य हैं, वह सबको समान दृष्टि से देखने वाले है। वह सब गुणो से युक्त कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले है, गम्भीरता में समुद्र के समान हैं, धैर्य मे हिमालय की तरह, पराक्रम मे विष्णु के समान और प्रिय दर्शन में चन्द्रमा के तुल्य है।

सीता के वियोग पर राम ने जो विलाप किया वह भी उनको ईश्वरावतार-सिद्ध न करके मनुष्य ही सिद्ध करता है। इस विलाप का वाल्मीकीय रामायण मे बड़ा करुणाजनक वर्णन है

विस्तारभय से समस्त श्लोक न देकर कुछ थोडे नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

एव संविलपन् राम. सीताहरणकर्शित: ।
दीन शोकसमाविष्टो मुहूर्तं विह्वलोऽभवत् ।।२९।।
सन्तप्तो ह्यवसन्नाङ्गो गतबुद्धिर्विचेष्टित ।
निषसादातुरो दीनो नि.श्वस्याशीतमायतम् ।।३०।।

आ० का० सर्ग ५९

इस प्रकार विलाप करते और सीता हरण से दु:खी हुए दीन, शोक युक्त राम थोडी देर के लिये व्याकुल हो गये। दु ख से कृश अगों वाले नि संज्ञ तथा चेष्टा रहित राम आतुर हो बडा उष्ण श्वास लेकर बैठ गये ।

स राजपुत्र प्रियया विहीन कामेन शोकेन च पीड्यमान ।
विषादयन् भ्रातरमार्तरूपो भूयो विषाद प्रविवेश तीव्रम् ।।१।।
न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुंधरायाम् ।
शोकेन शोकोहि परम्पराया मामेति भिन्दन्हृदय मनश्च ।।३।।
पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि ।
तत्रायमद्यापततो विपाको दु.खेन दु खं यदह विशामि ।।४।।
राज्यप्रणाश. स्वजनैर्वियोग पितुर्विनाशो जननी वियोग ।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगमापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ।।५।।

प्रिय विहीन तथा काम व मोह से पीडित दु.खित रूप वाले राजपुत्र राम अपने भाई (लक्ष्मण) को दु.खी करते हुए पुन. तीव्र दु.ख मे निमग्न हो गये। मै यह जानता हू कि पृथ्वी पर मेरे समान अशुभ कर्म करने वाला दूसरा नही है। हृदय तथा मन को वीधता हुआ शोक पर शोक परम्परा से मुझे प्राप्त होता है।

निश्चय ही मैने अनेक बार मन चाहे पाप किये है। उन्ही का फल यह आज मुझे प्राप्त हुआ है, जिससे मैं एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता हूं। हे लक्ष्मण! राज्य का नाश, घर वालो का छूटना, पिता का मरण, माता का वियोग ये सब मेरे शोक को बढाते हैं।

इन स्थल पर आगे राम ने मनुष्य की भाँति अनभिज्ञता प्रकट करते हुए कहा कि सम्भवतः राक्षसो ने सीता को मार कर खा लिया होगा। जटायु को पडा देखकर राम कहने लगे कि इसने सीता को खा लिया है, इसमें सदेह नही है। अब यह सीता को खाकर सुख पूर्वक पड़ा है। मैं इसे बाणों से मारूंगा इत्यादि। वाल्मीकीय रामायण का यह समस्त स्थल इस बात को प्रबलरूप से सिद्ध करता है कि राम, मनुष्य थे। सीता-वियोग से व्यथित होना, अपने समस्त दुखो का कारण अपने कृतपापो को बताना, एवं यह न जानना कि सीता को कौन ले गया और वह अब कहाँ है, जीवित है या मृत, ये सब ऐसे प्रमाण हैं, जो राम को ईश्वरावतार असिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। यदि ऋषि वाल्मीकि रचित रामायण काल मे राम को ईश्वर का अवतार माना गया होता तो रामायण में राम का इस प्रकार वर्णन न होता। अतः उपर्युक्त उद्धरणों से हमारे इस विचार की पूर्णरूप से पुष्टि होती है कि राम को उस काल में तथा पीछे बहुत समय तक कोई भी ईश्वरावतार नही मानता था।

इस प्रकार रामायण काल में न केवल मूर्तिपूजा ही अप्रचलित थी अपितु राम को ईश्वरावतार मानने की भावना भी प्रसारित नही हुई थी। यह समस्त कल्पनाएं वैष्णवादि सम्प्रदायों के प्रचार के पश्चात् ही, पौराणिककाल में, इस देश में फैली है। एक ओर इस कल्पना ने ईश्वर को खींचकर

अल्पज्ञ जीव की कोटि मे रख दिया दूसरी ओर राम को ईश्वर बताकर उनके आदर्शों को जन साधारण के अनुकरण की वस्तु न छोड़ा। वे समझने लगे कि राम तो ईश्वर थे भला हम उनका क्या अनुकरण कर सकते है। इन वादो से इस देश को जो हानि पहुँची है उसकी कल्पना भी नही की जा सकती।

मूर्तिपूजा तथा महाभारत काल

महाभारत का समय आज से लगभग पाँच हजार वर्ष से कुछ ऊपर अङ्कित किया जाता है। वह काल रामायणकाल से बहुत पीछे का है। रामायणकाल में आर्य लोग वैदिक मर्यादा का पालन करते थे किन्तु महाभारत के समय में उनकी खुले रूप में अवहेलना प्रारम्भ हो चुकी थी। तप और त्याग का स्थान भोग विलास लेते जा रहे थे। द्यूतादि दुष्कृत्य पाप नहीं समझे जाते थे। धर्मराज कहे जाने वाले युधिष्ठिर राजसभा में खुले रूप से जुआ खेलते थे। इस प्रकार वह जाति जो किसी समय संसार को धर्म का पाठ पढ़ाती थी बड़ी शीघ्रता से पतन की ओर अग्रसर हो चली थी।

रामायण की भांति महाभारत में भी प्रक्षिप्त भाग की कमी नहीं है। यदि यह कहा जाय कि वर्तमान महाभारत ग्रन्थ, उस ग्रन्थ से जिसकी रचना महर्षि वेदव्यास कृष्णद्वैपायन ने की थी, कई गुना बढ़ गया है, तो अत्युक्ति न होगी।

महाभारत की इस समय श्लोक संख्या ९५४२६ है। परन्तु स्वयं महाभारत की साक्षी से सिद्ध होता है कि व्यास जी ने केवल चौवीस हजार (२४०००) श्लोकों की रचना की है:—

> चतुर्विंशतिसाहस्री चक्रे भारतसंहिताम्।
> उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥ आदि १।१०१॥

(महर्षि व्यास ने) चौबीस सहस्र (श्लोकयुक्त) भारत संहिता बनाई थी। उपाख्यानो के बिना इतने को ज्ञानी लोग 'भारत' कहते हैं। इसके विपरीत एक दूसरा श्लोक देकर कुछ लोग श्लोक सख्या केवल ८८०० सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अह वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा ॥आदि १।८१॥

आठ सहस्र आठ सौ श्लोको को मैं जानता हूँ, शुक जानता है सञ्जय न जाने जानता है या नही जानता।

यह श्लोक सख्या इतनी किस प्रकार बढ गई, इसका भी स्वयं महाभारत ग्रन्थ से ही बहुत कुछ पता लग जाता है। सूत लोमहर्षण के पुत्र सूत उग्रश्रवा कहते है कि, "एकशतसहस्रन्तु मयोक्ता वै निबोधत।" (आदि १।१०७) "एक लाख श्लोक मेरा बनाया हुआ समझो।" इससे यह सिद्ध होता है कि किसी समय यह श्लोक सख्या एक लाख से भी कही अधिक पहुच चुकी थी।

स्वामी दयानन्द ने इस सम्बन्ध मे एक अन्य साक्षी अपने सत्यार्थप्रकाश मे राजा भोज लिखित संजीवनी इतिहास के आधार पर दी है, जिसमे लिखा बताया जाता है कि "व्यास जी ने ४४४० और उनके शिष्यों ने ५६०० अर्थात् सब १०००० के प्रमाण भारत बनाया था। वह महाराज विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराज भोज कहते है, मेरे पिता के समय में २५ सहस्र, अब मेरी आधी उम्र मे तीस सहस्र श्लोकयुक्त महाभारत की पुस्तक मिलती है", इत्यादि।

एक अन्य प्रमाण इस विषय मे गरुड़पुराण का भी उपलब्ध है जिससे भारत की श्लोक संख्या केवल छः हजार प्रमाणित होती है :—

दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कृतेयुगे भारते षट्सहस्रयाम्।
निष्कास्य काञ्चिन्नवनिर्मितानां निवेशन तत्र कुर्वन्ति नित्यम् ॥

कृतयुग मे सारे दैत्य ब्राह्मण कुलों मे उत्पन्न छः हजार श्लोक वाले भारत ग्रथ में कुछ अंश निकाल कर नये बने अंशों का निवेशप्रक्षेप नित्य करते रहते है। ('कृतेयुगे' के स्थान पर 'कलौयुगे' पाठ, अर्थ की दृष्टि संगत होगा—लेखक)।

उपरोक्त प्रमाणो से सिद्ध होता है कि महाभारत जिसका कि सबसे पूर्व नाम 'जय', फिर 'भारत' और अन्त में कदाचित् श्लोक वृद्धि के कारण 'महाभारत' पड़ गया—में इतने क्षेपक हैं कि मूल ग्रन्थ वास्तव में कितना है ? यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। जो बात महाभारत के सम्बन्ध में सत्य है, ठीक वही बात गीता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। गीता महाभारत का ही एक भाग हैं। शकर स्वामी के भाष्य से पूर्व उसका कोई अन्य भाष्य प्राप्त नही होता। जिससे यह प्रमाणित होता है कि उससे पूर्व गीता का महाभारत से पृथक कोई अस्तित्व एक ग्रन्थ के रूप मे नहीं था। श्रीकृष्ण का गीता के रूप में इतना विस्तृत एव विषयान्तर उपदेश भी ठीक युद्ध के समय न सम्भव है और न युक्तियुक्त। आत्मा के अमरत्व को सिद्ध कर के अर्जुन को युद्ध करने के लिये प्रोत्साहित करना पर्याप्त था, जो गीता के द्वितीय अध्याय से ही सिद्ध हो जाता है। अनेक विद्वानो का यह भी मत है कि समस्त गीता ही महाभारत में पीछे से जोड़ी गई है।

इस विषय में हम अधिक विस्तार में नही जाना चाहते, क्योंकि यह हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इससे हमारा

उद्देश्य केवल यह सिद्ध करना है कि इतना अधिक प्रक्षिप्तांश होने पर भी महाभारत एव गीता दोनो मे ही मूर्तिपूजा के समर्थन में एक भी श्लोक नही है । हाँ मूर्तिपूजा के खन्डन में एक स्पष्ट श्लोक महाभारत मे मिलता है —

मृच्छिलाधातुदार्वादिमूर्तावीश्वरबुद्धयः ।
क्लिश्यन्ति तपसा मूढा: परां शान्ति न यान्ति ते ॥

मूर्ख लोग मिट्टी, पाषाण, धातु अथवा काष्ट की मूर्तियों को ईश्वर समझते है । इन लोगों को कभी भी शांति प्राप्ति नही हो सकती ।

प्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार रायबहादुर चिन्तामणि विनायकवैद्य ने अपने 'भारत मीमासा' ग्रन्थ में इस विषय का सविस्तार विवेचन किया है । उनका भी यही मत है कि महाभारत काल तक इस देश मे मूर्तिपूजा प्रचलित नही थी । हम उसे उन ही के शब्दो मे पाठको के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत करते है —

(महाभारत मे) स्पष्ट देख पड़ता है कि प्रत्येक आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्रतिदिन सध्या एवं यज्ञ किया करते थे । कम से कम भारतीय योद्धाओ के वर्णन मे इस बात की कही कमी नही है । जिस तरह यह नही देख पडता कि कही समय पर सध्या करना राम और लक्ष्मण भूल गये हो, उसी तरह समझौते के लिये जाते हुए श्रीकृष्ण का जो वर्णन महाभारत में है, उसमे प्रात. सायं सध्या करने का वर्णन करने में भी कवि ने भूल नही की.—

प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान्सर्वमान्हिकम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातो प्रययौ नगरं प्रति ॥

(महा० उद्योग पर्व अ० १३)

संध्या में मुख्य भाग था उपस्थान करना जो वैदिक मन्त्रों से किया जाता है। लिखा है कि भारतीय युद्ध के समय समस्त क्षत्रिय प्रातः स्नान करके सध्या से छुट्टी पाकर रण भूमि पर सन्नद्ध होते थे। रात को एक ही दिन युद्ध हुआ और समस्त सैनिको ने युद्ध भूमि में ही आराम किया। उस समय का वर्णन है कि प्रातः काल होने से पहले ही युद्ध छिड़ गया, तव सूर्य निकला। उस समय समस्त सैन्य मे युद्ध रुक गया और सभी क्षत्रियोंने रणाङ्गण में ही संध्या अर्थात सूर्य उपस्थान किया। इससे देख पड़ता है कि भारत काल में सध्या और सूर्य के उपस्थान का कितना महात्म्य था। (द्रोण पर्व अ० १८६) "पूर्व मे अरुण के द्वारा ताम्रवर्णांकित रविमण्डल सोने के चक्र को भाँति दिखाई देने लगा, तव उस सध्या समय मे कौरव और पाण्डव दोनो ओर के योद्धा अपने अपने रथ, घोड़े और पालकी आदि सवारिया छोड़ छोड कर सूर्य की ओर मुंह करके हाथ जोड़ जप करने लगे" इत्यादि।

"दूसरा कर्तव्य था अग्नि मे आहुति देना। यह वात निश्चय पूर्वक सिद्ध है कि प्रत्येक आर्य वर्ण वाला मनुष्य अपने घर मे अग्नि स्थापित रखता था। द्रोण पर्व के ८२ वें अध्याय मे युधिष्ठिर का जो वर्णन किया है, उसे हम पहले दिखला चुके है। युधिष्ठिर प्रातः उठकर स्नान करके संध्या और फिर यज्ञशाला मे जाकर अग्नि मे आज्याहुति के साथ समिधा, वैदिक मत्र पढ़ कर यज्ञ करने को नही भूले।

समिद्भिश्च पवित्राभिरग्निमाहुतिभिस्तदा।
मंत्रपूताभिरर्चित्वा निश्चक्राम ततो गृहात्॥

"इस तरह उद्योग पर्व के ८ वे अध्याय में जव श्रीकृष्ण हस्तिनापुर को जाने के लिये चले, तव का वर्णन है:—

कृत्वा पौर्वान्हिक कृत्यं स्नातः शुचिरलकृत. ।
उपतस्थे विवस्वतं पावकं च जनार्दन ॥

लिखा है कि श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर ने सध्या एव होम करके ब्राह्मणो को दान दिया इत्यादि-इत्यादि (पृ०४४७-४४८) मूर्तिपूजा पर अपने विचार व्यक्त करते हुए, वह लिखते है —

"यह वात निर्विवाद है कि इस वर्णन मे कही मूर्तिपूजा का वर्णन नही है। यद्यपि श्रीकृष्ण अथवा युधिष्ठिर की आह्निक क्रियाओ का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है, तथापि उसमे किसी देवता को धातुमयी अथवा पाषाणमयी मूर्ति के पूजे जाने का वर्णन नही है। उस समय यदि लोगो की आह्निक क्रिया मे देवताओ की पूजा का समावेश हुआ रहता, तो उस विषय का उल्लेख इस वर्णन मे अवश्य आया होता। इससे निश्चय पूर्वक यह अनुमान होता है कि भारतीय युद्धकाल मे और महाभारत काल पर्यन्त आर्यो के आह्निक धर्म मे किसी प्रकार के देवता की पूजा समाविष्ट न हुई थी। किसी घर मे देवता की मूर्ति रख कर उसकी पूजा शुरू नही हुई थी। भिन्न भिन्न गृह्य सूत्रो मे भी देवताओ की पूजा की विधि नही बतलाई गई है। इससे य; वात निर्विवाद है कि देवताओ की पूजा की विधि महाभारत काल के पश्चात अनेक वर्षो में उत्पन्न हुई है।" (पृ० ४४८-४४९) आगे वह पुन लिखते है—"परन्तु महाभारत मे मन्दिरो और मन्दिरो स्थित मूर्तियो का वर्णन वहुत मिलता है। यह वात सच है कि मूल वैदिक धर्म मे मन्दिरो अथवा मूर्तियो का माहात्म्य न था और न लोगो के नित्य के धार्मिक कृत्य मे मूर्ति का समावेश था। महाभारत में सौति ने जो नवीन अध्याय जोडे है, उनमे मूर्तियो और मन्दिरो का वर्णन है" (पृ० ४४९) "यद्यपि मन्दिर और

मूर्तियाँ रही हों यथापि आर्यो के आह्निक धर्म कृत्य में अब तक देवताओं की पूजा न थी—यह बात महाभारत से और गृह्य सूत्रों से भी निश्चित देख पडती है।" (पृ० ४५० पक्ति १७-२१)

अन्त में इस विषय पर उपसहार करते हुए वह लिखते है.—

"यहां तक जो विवेचन किया गया है, उसका सारांश यह है कि भारतीय युद्ध काल में भारतीय आर्यो का धर्म केवल वेद विहित था, तो महाभारत काल मे इस धर्म में वैदिक देवताओं के सिवा और भी कुछ देवता समाविष्ट हो गये, और वैदिक देवताओं मे भी इन्द्र पीछे पड गये और शिव और विष्णु की मूर्ति पूर्णतया स्थापित हो गई। भारतीय युद्ध से लेकर महाभारत काल पर्यन्त जो ढाई तीन हजार वर्ष बीते, उतनी अवधि में भारतीय धर्म का रूपान्तर हो जाना अपरिहार्य था [यहां ग्रन्थ-कार का भारतीय युद्ध काल से अभिप्राय उस समय से है जब यह युद्ध हुआ और 'महाभारत काल' से भारतीय युद्ध के ढाई तीन हजार वर्ष पश्चात का समय है जब युद्ध के वर्णन मे पीछे से अनेक भाग जोड़े जाकर इस ग्रथ ने वर्तमान महाभारत का रूप धारण कर लिया—लेखक]

"वैदिक काल में ईश-भक्ति की विशेष क्रिया सध्या और यज्ञ थे। वेदाध्ययन और यजन तीनो वर्णो मे जीवित और जागृत थे, परन्तु भारतीय काल मे आर्यो और अनार्यो के समाज मे एवं धर्म मे पूर्णतया मिश्रण होकर जो धर्म स्थिर हुआ, उसमे यद्यपि ब्राह्मणो मे वेदाध्ययन और अग्निहोत्र बने रहे थे, तथापि अन्य वर्णो में शिव, विष्णु, स्कन्द और दुर्गा की पूजा प्रचलित होगई। इसके अतिरिक्त इसी समय इन देवताओ की प्रतिमाएं और इनके लिये मन्दिर बने। अज्ञ लोगों मे निरे भूत पिशाचों की ही भक्ति, स्कन्द के साथ अस्तित्व मे आगई थी और यह भी

प्रकट है कि बौद्धो के स्तूपों की पूजा का निषेध किया गया है" (पृष्ठ ४५५) विद्वान लेखक के उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि महाभारत के युद्ध के पश्चात ढाई तीन हजार वर्षों के अन्तर्गत इस देश मे मूर्तिपूजा का प्रचार हुआ। बौद्धो के स्तूपो की पूजा का निषेध भी यह सिद्ध करता है कि महाभारत ग्रंथ मे यह सम्मिश्रण बौद्धकाल मे हुआ है जब कि उनके स्तूपो की पूजा यहाँ प्रचलित हो चुकी थी।

कवियों की अलंकृत रचना की भाँति चित्र अथवा मूर्तिकारों की अलङ्कारयुक्त रचनाएं कला की दृष्टि से स्तुत्य ही है। प्राचीन काल की सरस्वती, लक्ष्मी तथा महाकाली (मृत्यु) की मूर्तियाँ कलाकार की अलंकृत रचनाए ही हैं। वर्तमान समय में भारत माता के चित्र की कल्पना भी ऐसी ही वस्तु हैं। पत्र पत्रिकाओ मे नित्य प्रकाशित होने वाले व्यङ्ग-चित्र क्या हैं ? कलाकार को कल्पना का ही तो परिणाम है। न इसमे कोई दोष है और न हानि। पाश्चात्य देशो मे अनेक महापुरुषो की स्थान स्थान पर मूर्तियाँ स्थापित हैं किन्तु इससे उन्हे कोई मूर्तिपूजक नही समझता। हानि तो उस समय प्रारम्भ होती है, जब हम उनमें चेतन सत्ता मान कर, चेतन की भाँति उनकी पूजा करने लगते हैं अथवा देवता वा ईश्वर समझकर उसकी स्तुति प्रार्थना द्वारा उसे आत्मोन्नति का साधन मान बैठते है। सम्भव है कि कला अथवा वीर पूजा की दृष्टि से उस समय भवनो अथवा मन्दिरो मे यह मूर्तियां रखी जाती हो, किन्तु इतने मात्र से मूर्तिपूजा सिद्ध नही की जा सकती, जब तक कि यह स्पष्ट उल्लेख न हो कि उन मन्दिरों में जाकर लोग उनकी आराधना तथा पूजा प्रार्थना करते थे।

महाभारत में परमात्मा को अशरीरी और निराकार लिखकर

अवतारवाद का भी खण्डन निम्न श्लोको से स्पष्ट है —

मनीषी मनसा विप्रः दृश्यात्मानमात्मनि ॥१५॥
नह्यय चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते ॥१६॥
अशब्दस्पर्शरूप तदरसागन्धमव्ययम् ।
अशरीर शरीरेषु निरीक्षेतनिरिन्द्रयम् ॥१७॥

शान्ति पर्व अ० २३६

हे विप्र ! मनीषी अपनी आत्मा मे ही आत्मा को देखता है। यह आत्मा न आखो से देखने योग्य है और न सारी इन्द्रियो से। मन रूप प्रदीप से यह देखा जा सकता है। १६। वह परमात्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित, अव्यय है और शरीर मे व्याप्त भी है। उस अशरीरी और निरिन्द्रिय को देखे।१७।

श्री मद्भगवद् गीता में स्थान-स्थान पर अग्निहोत्र, तप, योग्य स्वाध्याय आदि का ही वर्णन है, मूर्तिपूजा आदि जड उपासना का नहीः—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप. क्रिया. ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ता. सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतप. क्रिया: ।
दान क्रियाश्चविवधा क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

इसलिये ओंकार का उच्चारण करके यज्ञ, दान, तप, यह क्रियायें वैदिक लोगों में निरन्तर विधिपूर्वक होती रहती है।२४। हे अर्जुन ! मोक्ष की इच्छा वाले, फल की इच्छा न करके यज्ञ, तप की क्रिया और दान की नाना प्रकार की क्रियाये 'तत् सत्' शब्द उच्चारण करके करते हैं।२५। यज्ञ से अभिप्राय अग्निहोत्र से ही है, यह नीचे के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है:—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृत च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ ! अश्रद्धा से हवन किया हुआ, दान दिया हुआ, तप किया हुआ और जो कुछ कर्म अश्रद्धा से किया जाता है, उसको 'असत्' कहते हैं। वह कर्म न परलोक मे और न इस लोक मे फलदायक होता है।

पुन. कृष्ण ने यज्ञादि को नित्य तथा सर्वकाल मे करने योग्य कर्तव्य कर्म ठहराया है, इनको ही मनुष्य को पवित्र करने वाला बताया है:—

यज्ञ दान तप: कर्म न त्याज्य कार्यमेव तत् ।
यज्ञोदानतपश्चैव पावनानि मनीपिणाम् । ८॥ अ० १८।

यज्ञ, दान और तप त्यागने योग्य नही है। इन्हे करना ही चाहिये क्योकि यज्ञ, दान तथा तप यह मनुष्यो को पवित्र करते हैं।

अन्त में ईश्वर प्राप्ति का प्रकार वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण, अर्जुन से कहते हैं :—

सिद्धिप्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठाज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्याविशुद्धयायुक्तो धृत्यात्मान नियम्य च ।
शब्दादीन्विपयास्त्यक्त्वा रागद्वेपौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस. ।
ध्यानयोगपरो नित्य वैराग्य समुपाश्रित. ॥५२॥

हे अर्जुन ! शुद्ध अन्त करण वाला पुरुप जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है, उसको सुन और ज्ञान की जो सबसे बड़ी निष्ठा है, उसको भी सक्षेप से सुन।५०। शुद्ध बुद्धि से युक्त, आत्मिक बल द्वारा मन को रोक शब्द स्पर्शादि विपयो को छोड कर और राग द्वेप को त्याग कर पुरुप ब्रह्म को प्राप्त होता है।५१।

जो एकान्तसेवी, परमित भोजन करने वाला और जिसने शरीर वाणी और मन को जीत लिया है और सदैव ईश्वर विषयक चित्त-वृत्ति-निरोधरूपी समाधि में लगा हुआ वैराग्य को आश्रय किए हुए है, वह ब्रह्म को प्राप्त होता है।५२।

'सिद्धि प्राप्तो' इत्यादि पचासवे श्लोक का भाष्य करते हुए श्री शङ्कराचार्य इस युक्ति का खण्डन करते हुए, जोकि प्रायः मूर्ति पूजा के पक्ष में प्रस्तुत की जाती है कि निराकार परमात्मा को बुद्धि ग्रहण ही नही करती अतः मूर्ति की आवश्यकता है, लिखते है:—

"केचित्तु पण्डितम्मन्या निराकारत्वादात्मवस्तु नोपैति बुद्धिगतो दुःसाध्यसम्यग् ज्ञाननिष्ठेत्याहुः। सत्यमेवं गुरु सम्प्रदायरहितानाम्, अश्रुत-वेदान्तानाम्, अत्यन्तवहिर्विषया-सक्त बुद्धीनाम्, सम्यक् प्रमाणेष्वकृत श्रमाणाम्" ॥

कोई पडिताभिमानी लोग कहते है कि परमात्मा के निराकार होने से मनुष्य की वुद्धि उसको ग्रहण नही कर सकती; इसलिये परमात्मा का ज्ञान दुःसाध्य है। ठीक है। जो लोग गुरु परम्परा से रहित हैं, जिन्होने कभी वेदान्त नही सुना, वाह्य विषयों में जिनकी वुद्धि लगी हुई है, जिन्होने न्यायादि प्रमाणो में कुछ भी श्रम नही किया वे, ऐसा ही कहा करते है।

इस प्रकार महाभारत एवं गीता रचना काल तक मूर्तिपूजा का इस देश में प्रचलन नही था और न उसका यहाँ के निवा-सियों की पूजा-विधि मे किसी भी रूप मे समावेश हो पाया था।

मूर्तिपूजा और पौराणिक काल

महाभारत युद्ध के पश्चात् इस देश का घोर पतन प्रारम्भ होगया। देश अनेक माण्डलिक राज्यों मे विभक्त होगया और धर्म के नाम पर सब ही पापाचार किये जाने लगे। इसी काल में तंत्र ग्रन्थों की रचना हुई और सर्वत्र वाममार्ग प्रचलित हो गया। रामायण काल में जहाँ यज्ञ, मांसादि पडने से विध्वंस हुए समझे जाते थे, उन्ही यज्ञों मे अब पशु बलि दी जाने लगी। अश्वमेध गोमेध तथा नरमेध वैदिक यज्ञो मे घोड़ा, गौ तथा मनुष्य की बलि देकर "वैदिक हिंसा, हिंसा न भवति" की लोकोक्ति गढ-ली गई और उसकी आड़ मे सभी प्रकार की हिंसा प्रचलित होगई। यह काल धार्मिक दृष्टि से इस देश के महान पतन का समय कहा जा सकता है। जिन राक्षसों को देश से निकालने के लिए राम ने घोर युद्ध किया था, उन्ही राक्षसों का इस समय यहाँ साम्राज्य था। नरमुण्डो को गले मे लटकाये मनुष्य की खोपडी का पात्र हाथ मे लिए कपाली विचरते थे। श्मशान इनका निवास स्थान था तथा नरमाँस इनका भोजन था। लोग इनको सिद्ध महात्मा समझ कर पूजा करते थे। परन्तु इस धार्मिक ह्रास काल मे भी इस देश मे मूर्तिपूजा प्रचलित नही हुई थी अपितु यज्ञो का ही अत्यन्त विकृत रूप में प्रचार था।

जैन और बौद्ध धर्म का जन्म इसी दुरवस्था की प्रतिक्रिया थी। जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, इसी समय देश में विदेशियों

के आगमन तथा उनके सम्पर्क से मूर्तिपूजा का सूत्रपात हुआ और धीरे-धीरे वाममार्गीय हिसायुक्त यज्ञो का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया।

भगवान् बुद्ध ने यज्ञों का निषेध किया और सदाचारपूर्ण जीवन पर विशेष बल दिया। बुद्ध की शिक्षाओं मे मूर्तिपूजा का कही कोई उल्लेख नही है। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् भी बौद्ध धर्म मे मूर्तिपूजा का कोई स्थान नही था। परन्तु पीछे से विदेशियो के सम्पर्क से वौद्धों में भी मूर्तिपूजा प्रचलित होगई। वौद्ध धर्म भी अनेक सम्प्रदायों में विभाजित होगया और बौद्ध-काल का समस्त वैभव अस्तव्यस्त होने लगा।

इसी समय श्री शङ्कराचार्य ने पुनः वैदिक धर्म की स्थापना का प्रयास किया, जिसके आधार विशेषतः उपनिषद्, वेदान्त-दर्शन तथा गीता थे, जो आज भी 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध है। शङ्कर स्वामी ने मूर्तिपूजा का खण्डन करके वौद्ध धर्म के साथ उसे भी इस देश से निर्वासित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हे इसमे सफलता नही मिली। अपनी पुस्तक 'परापूजा' मे उन्होने मूर्तिपूजा को निम्न शब्दो मे कड़ी आलोचना की है—

१—पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य वासनम्।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यंच, शुद्धस्याचमन कुत ॥

२—सर्वाधारो निराधारः सर्वव्यापक ईश्वरः।
प्राणादिप्रेरकत्वेन जीवने हेतुरेव च ॥

पुराणवाक्यम्—

३—अधमा प्रतिमा पूजा, स्तोत्रजाप्य च मध्यमा,
उत्तमा निगमा पूजा सोऽहं पूजा महात्मन. ॥

४—तीर्थेपु पशुयज्ञेपु काष्ठपापाण मृन्मये।
प्रतिमाया मनोयेपा ते नरा मूढचेतम: ॥

५—पाषाणैरालयं कृत्वा देवः पाषाण एव च।
ब्रूहि पण्डित ! देवस्तु कस्मिन् स्थाने स तिष्ठति॥

६—स्वगृहे पायसं त्यक्त्वा भिक्षामिच्छति दुर्मतिः।
शिलामृतदारुचित्रेषु देवता बुद्धिकल्पिता॥

७—निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च।
निरालम्बस्योपवीतं च, रम्यस्याभरणं कुतः॥

८—निर्लेपस्य कुतो गन्धं पुष्पं निर्वासनस्य च।
निर्गन्धस्य कुतो धूपं स्वप्रकाशस्य दीपकम्॥

९—नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं निष्कामस्य फलं कुतः।
ताम्बूलं च विभो कुत्र नित्यानन्दस्य दक्षिणा॥

१०—स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विधिः।
प्रदक्षिणाह्यनन्तस्य चाद्वितीयस्य का नतिः॥

११—अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत्।
इयमेव परापूजा शम्भो सत्यपरायण॥

१२—देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सनातन।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्॥

१—पूर्ण का आवाहन कैसा ? सर्वाधार को आसन कैसा ? स्वच्छ के लिये पाद्य और अर्घ कैसा ? और शुद्ध के लिये आचमन कैसा ?

२—परमेश्वर सर्वाधार, निराधार और सर्वव्यापक है। प्राणों का प्रेरक और जीवन का हेतु है।

३—पुराणों का वाक्य है—प्रतिमा पूजा अधम है, स्तोत्रों का जपना मध्यम है, वेद पूजा सर्वोत्तम है, महात्माओं की पूजा 'सोऽहम्' है।

४—तीर्थ, पशुयज्ञ, लकडी पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों में जिनके मन लगे है, वे मनुष्य मूढ अज्ञानी है।

५—पत्थरो से एक स्थान मे बांधकर और देव को पाषाण बनाकर, अरे पण्डित ! कह तो सही, वह देवता कहाँ पर रहता है ?

६—अपने घर मे खीर छोड़ कर, अरे दुर्मति ! भिक्षा मांगता फिरता है ! पत्थर, मिट्टी और लकड़ियो के चित्र में देवता बुद्धि रखता है।

७—अरे निर्मल का स्नान कैसा ? विश्वोदर के लिये वस्त्र कैसे ? निरालम्ब के लिए यज्ञोपवीत कैसा ? और रम्य के लिए आभूषण कैसे ?

८—निर्लेप के लिए गन्ध क्या ? निर्वसन के लिए पुष्प क्या ? निर्गन्ध के लिए धूप कैसी ? स्वप्रकाश के लिए दीपक दिखाना क्या ?

९—नित्यतृप्त के लिए नैवेद्य क्या ? निष्काम के लिए फल कैसे ? विभु के लिये ताम्बूल कैसा ? और नित्यानन्द के लिए दक्षिणा का क्या काम ?

१०—स्वयं प्रकाश के लिए दीपक क्या दिखाना ? अनन्त की प्रदक्षिणा क्या करनी ? अद्वितीय को नमस्कार क्या करना ?

११—जो भीतर और बाहर परिपूर्ण है उसके लिए विसर्जन कराना क्या ? परमात्मा की पूजा विधि यही है कि—

१२—इस शरीर को देवालय बनाओ और सनातन जीव को देवता समझो, अज्ञानरूप निर्माल्य को तजो और 'सोऽहं' भाव से पूजा करो।

इसी भांति श्री शकर स्वामी ने ईश्वर के साकारत्व का अपने भाष्यो मे स्थान-स्थान पर खण्डन किया है। वेदान्त भाष्य से कुछ उद्धरण हम यहाँ देते है.—

"नैकस्मिन्नसम्भवात्" ।२।२।३३।वेदान्त।
इस पर भाष्य करते हुये शकर स्वामी कहते है—

"नह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्वादि विरुद्ध धर्म समावेश: सम्भवति शीतोष्णवत्" ।

"एक वस्तु मे एक ही समय मे दो विरोधी गुण सरदी गर्मी के समान नही रह सकते।"

भाव यह है कि इसी प्रकार साकारता निराकारता दो विरोधी गुण एक साथ ब्रह्म मे नही हो सकते।

न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्ग सर्वत्र हि ।३।२।११। (वेदान्त) पर भाष्य करते हुये लिखते हैं—

"तत्रोभयोलिङ्ग श्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्ग भवे ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते ब्रूम । न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभय लिङ्गत्वमुपपद्यते। नह्येक वस्तु स्वतएव रूपादि विशेपोपेत तद्विपरीत चेत्यवधारयितु शक्य विरोधात् ।······सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेपु वाक्येषु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" ।

(इस प्रश्न का कि उपनिषदो मे ब्रह्म के दो रूप निराकार और साकार पाये जाते है, उत्तर शकर स्वामी ने अपने इस भाष्य मे दिया है) ब्रह्म के दो रूप नही हो सकते। ऐसी कोई वस्तु नही, जिसमे दो विपरीत गुण साकारता और निराकारता रहे क्योकि यह दोनो गुण परस्पर विरोधी हैं।······सब जगह ही ब्रह्म के रूप का प्रतिपादन करने वाले वाक्यो मे ब्रह्म को शब्द, स्पर्श एव रूप रहित और अव्यय, अविकारी ही कहा है।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्य. । वेदान्त सूत्र २।२।४०

"शरीरत्वे सति ससारिवद् भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्यापि अनीश्वरत्वं प्रसज्येत्"

शरीर सहित साकार होने पर, ससारी पुरुष के समान भोगादि के प्रसंग से ईश्वर होने पर उसमे भी अनीश्वरत्व हो जायगा।

गणेश पूजा की आलोचना करते हुये शङ्कर स्वामी कहते है.—

"भो गाणपत्या सत्यमुक्त भवता गणपते: सर्वोत्तमत्वं वनमथावलाद्रु द्राद्युत्पत्तिश्चेति भवद्भि प्रतिपादितं किलतदसमञ्जसम् प्रतिभाति। कथ सगुणस्य गजमुखस्य गणपते रुद्रगणै: लयोऽनुगस्य, जगत् कारणत्वं कल्पयितुमुचितम्। किञ्च रुद्रसुत इतिलोके प्रसिद्धरस्ति, तस्य ब्रह्मणत्वे कल्पिते पित्रादिकारणत्वं सुतस्यानुचितमेव, अतो रुद्रादिकारण परब्रह्मैव 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि वाक्यात्'।

शङ्कर दिग्विजय पृ० ८४

गणपति के पूजक ! तुम्हारा यह कहना है कि गणपति सबसे उत्तम है सत्य नही है। सगुण गणेश, गजमुख वाला जो रुद्र के गणो के साथ उत्पन्न और नष्ट होता है, वह जगत का कारण कैसे हो सकता है ? क्योकि वह रुद्र का पुत्र है, यह लोक मे प्रसिद्ध है। उसको ब्रह्म मानोगे तो यह पुत्र होने से रुद्रादिको का कारण नही होगा। इसलिये ब्रह्म ही रुद्रादि का कारण है। 'वही सत्य रूप सृष्टि के पूर्व था' इत्यादि उपनिषद् प्रमाण है।

शङ्कर भाष्य से ऐसे ही अन्य प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु ग्रन्थ विस्तार भय से हम उन्हें यहाँ नही देते। परन्तु श्री शङ्कराचार्य का मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रयत्न विफल रहा और

बौद्ध-धर्म के पतन के साथ इस देश में अनेक प्रकार की मूर्तियों की रचना होती ही गई जिन्होने बुद्ध तथा तीर्थङ्करों की मूर्तियों का स्थान ग्रहण कर लिया। अनेकानेक पुराणों की रचना भी इसी काल मे की गई। वर्तमान हिन्दू-धर्म की मूर्तिपूजा आचार-विचार, पर्व, तीर्थ, जन्म-जात-वर्णव्यवस्था सब ही की रूपरेखा इसी समय की गई। उसके तीन मुख्य सम्प्रदायों–शैव, शाक्त तथा वैष्णव, का जन्म भी इसी काल मे हुआ। अठारह महा-पुराण इन ही तीन सम्प्रदायों के आधार भूत ग्रन्थ है। वैष्णव-सम्प्रदाय-प्रधान पुराणो ने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ माहात्म्य को जितना महत्व दिया है, उतना शैव अथवा शाक्त-प्रधान पुराणों ने नही दिया।

पुराणो के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में भी विद्वानो ने मूर्तिपूजा का विरोध किया। उन्होने या तो इसका सर्वथा खण्डन किया, या उसे अज्ञानी, मूर्ख अथवा निचली श्रेणी के लोगों की वस्तु बताकर ज्ञानियो के लिये उसका निषेध किया। मन्दिरों मे पूजा कार्य ब्राह्मणो ने स्वीकार नही किया और यदि किसी ने लालच-वश स्वीकार कर लिया तो उसे जातिच्युत कर दिया गया। पुराणों से ऐसे ही कुछ प्रमाण हम नीचे देते हैं:—

प्राप्ते कलावहह दुष्टतरे च काले।
न त्वा भजन्ति मनुजा ननु वञ्चितास्ते।
धूर्तै. पुराणचतुरैर्हरिशङ्कराणा, ।
सेवापराश्चविहितास्तव निर्मितानाम् ॥१२॥

देवी भागवत स्क० ५ अ० १६

इस घोर कलियुग में पुराणो के बनाने में धूर्त चतुर लोगों

ने विष्णु शिव आदि की पूजा अपने पेट भरने के लिये चलाई।

नाम्बुमयानि तीर्थानि न देवाः मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥११॥
नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारकाः,
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ् मनः।
उपासिता भेदकृता हरन्त्यघ,
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥१२॥

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधी।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिलेन कर्हिचित्, जनेष्वभिज्ञेषु स एवगोखरः ॥१३॥

श्रीमद्भागवत स्क० १० अ० ८४

पानी वाले तीर्थ नही होते, मिट्टी और पत्थरो की मूर्तियां देवता नही होती। वे वहुत काल में भी पवित्र नही करते। साधु महात्मा के दर्शन ही पवित्र करते है।१। अग्नि, सूर्य, चाद, तारे, भूमि, जल, आकाश, वायु, वाणी, मन आदि पदार्थों की उपासना से पाप दूर नही होता। इनकी पूजा परमात्मा से अलग करने वाली हैं। विद्वानो की थोडी सेवा भी पापो को हरती है।१२। वात, पित्त, कफ तीन मलो से वने हुए शरीर मे जो आत्म-वुद्धि, स्त्री आदि में स्ववुद्धि, पृथ्वी से वनी हुई मूर्तियों में जो पूज्यवुद्धि और पानी मे तीर्थ वुद्धि कभी भी करता है, वह गोखर—गौओ का चारा ढोने वाला गधा है।१३।

इसी प्रकार कपिलदेव, जिनकी अवतारो में गणना है कहते हैं:—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थित सदा।
तमवज्ञाय मा मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥२१॥

यो मा सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मायाद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥२२
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चाया भूतग्रामावमानिन ॥२४॥
श्रीमद्भागवत स्क० ३ अ० २९ ।

सर्व प्राणियो मे जीवात्मा रूप से मैं व्याप्त रहता हूं। जो मेरा निरादर करके मूर्ति का पूजन करते है, यह विडम्बना है। मैं सबकी देह मे रहने वाला हूँ। जो मनुष्य मुझे त्याग कर प्रतिमा का पूजन करते है, वे अपनी अज्ञानता से राख मे हवन करते है ।२२। हे जननि ! ऊंचे नीचे पदार्थों से, कर्म से, पूजा से, मैं सन्तुष्ट नही होता हूँ तथा जो प्राणियो का तिरस्कार करते है, उन पर मै प्रसन्न नही होता हूँ।

नह्यम्बुमयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्यपि कालेन विष्णुभक्ता क्षणादहो ॥४२॥
देवी भागवत स्क० ९ अ० ७

पानी के तीर्थ नही होते, मिट्टी और पत्थरो के देवता नही होते, वे किसी काल मे भी पवित्र नही करते।

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान् पाषाणमृन्मयान् ।
योगिनो न प्रपद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ॥
शिवपुराण दे० सं० ३९।२९

जल से पूर्ण तीर्थ और पत्थर तथा मिट्टी के देवताओ को योगिजन अपने आत्म विश्वास से नही मानते।

शिवपुराण में भिन्न-भिन्न धातुओ के भिन्न-भिन्न वर्णों में शिवलिङ्ग पूजने का विधान है। परन्तु इस समय देश में सर्वत्र पत्थर के ही लिङ्ग की पूजा प्रचलित है, जो शिवपुराण के

अनुसार केवल शूद्रों के लिए विहीत है—"शिलालिङ्गं तु शूद्राणां महाशुद्धिकरं शुभम् ॥" ४६॥ शि० पु० विद्ये० स० १—१८। इससे भी सिद्ध है कि प्रचलित "शिवलिङ्ग" पूजा शूद्रो के लिये ही प्रचलित की गई थी।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के मन्त्री सुप्रसिद्ध नीतिकार चाणक्य ने भी मूर्तिपूजा को थोड़ी बुद्धि वालो के लिए बताया है—

अग्निर्देवो द्विजातीना मुनीना हृदि दैवतम् ।
प्रतिमा स्वल्पवुद्धीना सर्वत्र समदर्शिना ॥१६॥

चाणक्यनीति अ० ४

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का देवता अग्नि (अग्निहोत्र) है, मुनियो के हृदय मे देवता है, थोडी वुद्धि वालों को मूर्ति और समदर्शियो के लिए सर्वत्र ही देवता है।

पुजारियो के लिए भी पुराणो में यत्र तत्र निन्दनीय शब्दो का प्रयोग किया गया है और उन्हें जाति से बहिष्कृत करने को कहा है। वाराह पुराण मे, किन-किन ब्राह्मणो को श्राद्ध मे भोजन न कराया जाय, की गणना करते हुए 'देवलक' अर्थात् मन्दिर के पुजारी का भी नाम लिया है—

वृषली सूतिपोष्यश्च वृषलीपतिरेव च ।
तथा देवलकश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥१४॥७॥

वृषली (दुराचारिणी) सूति (नवप्रसूता) वृषली का पति तथा मन्दिर के पुजारी श्राद्ध-भोजन में स्थान पाने योग्य नही है।

पद्मपुराण जो "वैष्णव पुराण" है, विष्णु के अतिरिक्त अन्य देव मूर्तियो के दर्शन, स्पर्श, पूजा तथा उन पर चढाये गये पदार्थ को सर्वथा त्यागने का वड़े कठोर शब्दों में निर्देश करता है:—

नान्य देव तु वीक्षेत ब्राह्मणो न च पूजयेत् ।
नान्य प्रसाद भुंजीत नान्यस्यायतनविशेत् ।
इतरेषा तु देवानां निर्माल्य गर्हित भवेत्
सकृदेव हि योऽश्नाति ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बल: ।।९७।।
निर्माल्य शङ्करादीना स चण्डालो भवेद् ध्रुवम् ।
कल्पकोटि सहस्राणि पच्यते नरकाग्निना ।।९८।।
निर्माल्य भो द्विजश्रेष्ठा रुद्रादीना दिवौकसाम् ।
रक्षोयक्ष पिशाचन्न मद्यमाससम स्मृतम् ।।९९।।

अर्थात् ब्राह्मण दूसरे देवता का न तो दर्शन करे और न उसे पूजे, न उसके प्रसाद को खाय और न उसके मन्दिर मे जाय। दूसरे देवताओ का निर्माल्य भी ग्रहण न करे। जो मूर्ख ब्राह्मण इस निर्माल्य को खाता है, वह मानो विष्टा खाता है। शङ्करादि के निर्माल्य को खाने वाला, निश्चय ही चाण्डाल होता है। वह नरकाग्नि मे करोडो कल्प तक पडा रहता है। हे ब्राह्मणो! शिवादि देवताओ का निर्माल्य मद्य मास के तुल्य है।

भविष्यपुराण की रचना अन्य पुराणो की अपेक्षा नवीनतम समझी जाती है। इसमे मुसलमानो के आक्रमण तथा अगरेजों के आगमन तक का उल्लेख भविष्यवाणी के रूप में किया गया है, जो इस पुराण की नवीनता सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। इसी पुराण मे एक अत्यन्त मनोरजक कथा मिलती है, जिससे सिद्ध होता है कि आज से कुछ शताब्दि पूर्व तक ब्राह्मण मन्दिरो मे पुजारी कार्य करने को निन्दनीय समझते थे।

श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब ने अपने पिता द्वारा दिये गए शाप से मुक्त होने के लिये नारद के आदेशानुसार सूर्य का एक बहुत बड़ा मन्दिर निर्माण किया और उसमे सूर्य की मूर्ति की स्थापना

की। उसी कथा के एक आवश्यक अश को 'भविष्य पुराण भापा' से उसी के शब्दो मे सक्षेपतः उद्धृत करते हैं—

साम्ब कहते है कि हे नारद जी, आपके अनुग्रह से सूर्य नारायण का मुझे प्रत्यक्ष दर्शन हुआ और उत्तम रूप भी पाया, परन्तु एक चिन्ता मुझे बहुत है कि इस मूर्ति का पूजन और रक्षा कौन करेगा यह आप मुझे बतावे जिससे मेरी चिन्ता निवृत होय यह सुन नारद जी ने कहा कि हे साम्ब ब्राह्मण तो कोई इस काम को स्वीकार न करेगा क्योकि जो ब्राह्मण देव धन से अपना निर्वाह करते हैं वे देवलक कहाते है और शूद्र की भांति पक्ति बाह्य होते है और देवधन और ब्राह्मण धन को लोभ से ग्रहण करते है वे नरक में पड़ते है और वहाँ उनको गृद्धो का उच्छिष्ट भोजन मिलता है इसलिये कोई ब्राह्मण देवता का पूजक नही बनना चाहना अब तुम सूर्यनारायण से ही पूछो कि जो उनका पूजन विधि से किया करे अथवा उग्रसेन राजा के पुरोहित से कहो जो कदाचित् इस काम को स्वीकार करे-यह नारद जी का वाक्य सुन साम्ब उग्रसेन के पुरोहित गौरमुख के घर गये गौरमुख भी स्नान सध्या कर अपने घर मे स्वस्थ बैठे थे साम्ब ने प्रणाम कर अपना अभिप्राय उनसे प्रकट किया कि महाराज मैंने सूर्यनारायण का प्रासाद बनाया है उसमे पत्नी सहित सूर्यनारायण की प्रतिमा स्थापन करी है और अपने नाम से नगर बसाया है अब मेरी यह प्रार्थना है कि आप इसको ग्रहण करें यह साम्ब का वचन सुन गौरमुख बोले कि हे सम्ब हम ब्राह्मण है और आप राजा हो जो यह प्रतिग्रह हम आप से ग्रहण करे तो ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाय और शूद्र के तुल्य देवलक बन जांय, जन्मान्तर मे राक्षस बने और तुमको भी केवल पाप ही प्राप्त होय देवलक जिस पक्ति में बैठ

भोजन करे वह पंक्ति अपवित्र हो जाती है और कृच्छ्रचान्द्रायण किये विना शुद्ध नही होती देवलक जिसके यज्ञोपवीत आदि सस्कार करे उसके पिता अधोगति को प्राप्त होते है और सब प्रतिग्रह तो ब्राह्मण ग्रहण करते हैं परन्तु देव प्रतिग्रह ब्राह्मण को कभी न लेना चाहिए इत्यादि" (भविष्य पुराण भाषा पूर्वार्द्ध १३३ अ० । नवलकिशोर प्रिंटिग प्रेस लखनऊ, जून सन् १८९१ ई०)

आज से लगभग ग्यारह सौ वर्ष पूर्व इतिहास प्रसिद्ध अरब यात्री अलबरुनी भी, जिसने इस देश मे ३०-४० वर्ष रह कर अनेक संस्कृत ग्रन्थो का अरबी अनुवाद किया है, हमारी इस धारणा की पुष्टि करता है। उसने अपनी 'किताबुल-हिन्द' के ११ वे अध्याय मे उस समय के समस्त सम्प्रदायों का विवरण दिया है । सब देवताओ की आकृति का सविस्तार वर्णन किया है और मूर्तिपूजा के सिद्धान्त पर स्वय भी विचार किया है। उसका कहना है, कि "यह मूर्तिपूजा केवल हिन्दुस्तान के जन-साधारण तथा मूर्खो का धर्म है, अन्यथा शिक्षित हिन्दू ऐसा नही समझते ।" (अलबरूनी का भारत)

इसी प्रकार 'भारत का धार्मिक इतिहास' के ग्रन्थकार ने (Crowford's History of the Indian Archipelago, 1820 Vol II, and Journal of Indian Archipelago Vol. II, III, & IV) श्री क्रोफोर्ड के भारतीय द्वीप समूह के इतिहास से जो उद्धरण दिये है, उनसे सिद्ध होता है कि यवद्वीप में बौद्ध धर्म का प्राबल्य होने पर कुछ हिन्दू बालि द्वीप में जा बसे। वे अब तक यथा-विधि हिन्दू धर्म का पालन करते है। "प्राचीन हिन्दुओ की भाँति वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त

है। अद्यापि वहां हिन्दू राजा राज करते है। ब्राह्मण निरामिष भोजी है। उनका यही की तरह सम्मान होता है।............ ब्राह्मण लोग मूर्तिपूजा नही करते।" इससे भी भली प्रकार सिद्ध होता है कि इस देश में मूर्तिपूजा प्रचलित होने पर भी ब्राह्मणादि विद्वान् लोग मूर्तिपूजा नही करते थे और उसे हेय समझते थे।

पुराणो मे जहां मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का निरूपण है, वहाँ ऐसे भी स्थल है, जहा ईश्वर को स्पष्ट शब्दो मे निराकार, सर्व-व्यापक और अजन्मा बताया है, जिससे मूर्तिपूजा एव अवतारवाद की आधार शिला ही हिल जाती है और इस साम्प्रदायिक झझावात में भी प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों की कहीं-कही झलक दीख पडती है। पुराणो के ऐसे ही स्थलो से कुछ श्लोक हम नीचे देते है:—

निर्गुणस्य मुने रूप न भवेद्दृष्टिगोचरम् ।
दृश्य च नश्वर यस्मादरूप दृश्यते कथम् ॥८

दे० भा० स्क० ३ अ० ७

(ब्रह्मा बोले) हे मुने! निर्गुण का रूप दृष्टिगोचर नहीहोता। कारण कि दृश्य तो नश्वर है। अरूप का दर्शन कैसे हो सकता है?

एको व्यापी सम शुद्धो निर्गुणः प्रकृते: पर. ।
जन्म वृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्यय: ॥२८।
परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभु: ।
न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव चोच्यते ॥३०

विष्णु पु० अ० २ आ० १४

जन्म से रहित आत्मा, एक व्यापक, सम, शुद्ध, निर्गुण और प्रकृति से परे है। वृद्धि आदि से रहित, सर्वव्यापी और अव्यय है।२८।

हे राजन् ! वह परम ज्ञानमय है, असत् नाम और जाति आदि से उस सर्व व्यापक का योग न कभी हुआ है, न है, और न होगा।

विष्णु पुराण मे विष्णु शब्द की व्याख्या भी 'सर्वव्यापक' अर्थ में की गई है—

यस्माद्विष्टमिद विश्व तस्य शक्त्या महात्मन: ।
तस्मात्स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातो: प्रवेशनात् ।।४५।।

वि० पु० अ० ३ अ० १

यह सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा की शक्ति से व्याप्त है। अत: वह विष्णु कहलाता है। क्योकि 'विश' धातु का अर्थ प्रवेश करना है।

न ह्यादिमध्यान्तमजस्य यस्य विद्मोवयं सर्वमयस्यधातु. ।
न च स्वरूप न पर स्वभाव न चैव सार परमेश्वरस्य ।।८३
कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूते: परिणामहेतु ।
अजन्मनश्चास्य सदैकमूर्तेरनामरूपस्य सनातनस्य ।।८४।।

वि० पु० अ श ४ अ० १

जिस अजन्मा, सर्वमय, विधाता, परमेश्वर का आदि, मध्य, अन्त, स्वरूप, स्वभाव और सार हम नही पाते ।८३। कला मुहूर्तादिमय काल भी जिसकी विभूति के परिणाम का कारण नही हो सकता जिसका जन्म और मरण नही होता जो सनातन और सर्वदा एक रूप है तथा जो नाम रूप से रहित है। ८४

परमात्मा इन आँखो से नही देखा जा सकता, स्वाध्याय तथा योग द्वारा ही उसके दर्शन होते है, इस विषय पर भी निम्न श्लोक वडा सुन्दर प्रकाश डालते है और 'ईश्वर प्राप्ति का साधन मूर्ति-पूजा नही है' का प्रतिपादन करते है.—

स्वाध्याययोगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ।।२
तदीक्षणाय स्वाध्यायश्चक्षुर्योगस्तथापरः ।
न मा स चक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूत. स शक्यते ।।३

वि० पु० अं० ६ अ० ६

स्वाध्याय से योग का और योग से स्वाध्याय का आश्रय करे। इस प्रकार स्वाध्याय और योग रूप सम्पति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं। ब्रह्मस्वरूप परमात्मा को मांस-मय चक्षुओं से नही देखा जा सकता। उन्हें देखने के लिये स्वाध्याय और योग ही दो नेत्र है।

न तत्रात्मा स्वय ज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः ।
आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ।।८

श्रीमद्भा० स्क० १२ अ० ५

ज्योतिस्वरूप परमात्मा व्यक्त पदार्थों से सूक्ष्म अव्यक्त है। वह आकाश की भाँति सर्वाधार, निर्विकार, अन्तहीन और उपमा रहित है।

अपाणिपादो जवनो गृहीता हृदिसस्थितः ।
अचक्षुरपि पश्यामि तथाकर्ण श्रणोम्यहम् ।।

कूर्म उपरिभाग अ० २ पृ० ४५६

मैं हृदय मे स्थित रहने वाला, बिना पैरों के चलने और बिना हाथो ग्रहण करने के कार्य को करता हूँ। बिना आंखो के भी देखता और बिना कान के सुनता हूँ।

प्रधानपुरुषातीतं प्रलयोत्पत्तिवर्जितम् ।।२०।। लिङ्ग पु० अ० २

परमात्मा प्रकृति और जीव से ऊपर तथा उत्पत्ति और विनाश से रहित है।

आधिव्याधिजरामृत्युशोकभीतिविवर्जितम् ।

अ० वै० पु० ब्र० खं० अ० २

परमेश्वर दुःख, रोग, बुढापा, मृत्यु शोक और भय से सर्वथा रहित है ।

गन्धवर्णरसैर्हीनं शब्दस्पर्शविवर्जितम् ।
अजात ध्रुवमक्षय्य नित्यं स्वात्मन्यवस्थितम् ॥१८

वायु पु० अ० ४

गन्ध, वर्ण, रस, शब्द और स्पर्श, रूप विषयों से रहित, अजन्मा, नित्य अविनाशी परमात्मा अपने ही आत्मा में स्थित है ।

अचक्षुरपि यः पश्यत्यकर्णोऽपि शृणोति यः ।
सर्वं वेत्ति न वेत्तास्य तमाहु पुरुषं परम् ॥८७

शिव पु० वायु सं० अ० ४

विना आखों के भी वह देखता है और बिना कानो के भी सुनता है । वह सबको जानता है, उसको पूर्ण रूप से जानने वाला कोई नही । उसको परमात्मा कहा जाता है ।

सर्वं तत्र सर्वत्र व्याप्य तिष्ठति शाश्वतः ।
तथापि कापि केनापि व्यक्तमेष न दृश्यते ॥४६
नैवाय चक्षुषा ग्राह्यो नापरैरिन्द्रियैरपि ।
मनसैव प्रदीप्तेन महानात्मावसीयते ॥७४
तिलेषु वा यथा तैल दध्निवा सर्पिरर्पितम् ।
यथापः स्रोतसि व्याप्तो यथारण्याहुताशन ॥७४
एवमेव महात्मानमात्मन्यात्मविलक्षणम् ।
सत्येन तपसा चैव नित्ययुक्तोऽनुपश्यति ॥७५

शि० पु० वायु० स० अ० ४

वह सब में सर्वत्र व्यापक होकर ठहरा हुआ है तो भी कहीं किसी से प्रकट रूप में नही देखा जाता ।४६। न वह आँखों से देखा जा सकता है न अन्य इन्द्रियो से ग्रहण किया जा सकता है। प्रकाशित मन से ही वह महानात्मा प्राप्त किया जा सकता है।४७। जैसे तिलों मे तेल और दही में घृत छुपा हुआ है, जैसे पानी स्रोत मे तथा अरणी में अग्नि छुपा है ।७४। वैसे विलक्षण परमात्मा आत्मा में छिपा रहता है। उसको योगी सत्य और तप से नित्य अपने आत्मा मे देखता है ।७५।

समस्त पुराणो में ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा शक्ति की पूजा का ही विशेष रूप से वर्णन है। किन्तु प्रत्येक सम्प्रदाय का पुराण अपने-अपने उपास्य देव को ही सर्वोपरि बताते हुये दूसरे सम्प्रदायो के उपास्य देवो की निन्दा करता है। वैष्णव पुराण विष्णु को महान् और शेष ब्रह्मा, शिव तथा शक्ति को निकृष्ट सिद्ध करते हैं और उनके उपासको को नरकगामी बताते हैं। इसी प्रकार शिव पुराण, शिव की महत्ता तथा अन्य देवो की निन्दा करता है। शाक्तों के पुराण देवी भागवत मे ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की बडे ही कठोर शब्दो में आलोचना की गई है। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायियो के प्रति नि:संकोच अपशब्दो का प्रयोग करता है। इतना ही नहीं, इन पुराणो में इन देवो के पारस्परिक तुमल युद्ध और जय, पराजय का भी वर्णन है। जिसका कुछ दिग्दर्शन हम पाठको को आगे करायेंगे।

पौराणिक काल की उपर्युक्त साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता से यह पूर्णत सिद्ध होता है कि चाहे मूर्तिपूजा का आदि कारण कुछ भी रहा हो, किन्तु कालान्तर मे इसका विस्तार व्यवसायिक बुद्धि से हुआ और आज भी यही भावना, इसकी असारता और दं पों

को जानते हुये भी, इसके परित्याग में बाधक है। जिस प्रकार एक दुकानदार अपनी वस्तुओं को सर्वश्रेष्ठ और दूसरे की वस्तुओं को निकृष्ट बताकर ग्राहकों को अपनी दुकान पर खीचने का प्रयत्न करता है ठीक यही दशा इन सम्प्रदायों की है। वे अपने देवता, एव तिलक छाप की प्रशंसा तथा दूसरों की निन्दा करके अपनी-अपनी दुकान जमाने का प्रयत्न करते है, अन्यथा यदि समस्त उपास्य देवो मे एक ही ईश्वर की भावना होती तो इस प्रतिद्वन्दिता का कोई कारण ही नही था। बहुदेवतावाद का यह स्वाभाविक दुष्परिणाम है। पौराणिक काल की यही व्यवसायपूर्ण साम्प्रदायिक स्पर्धा आर्य जाति के आन्तरिक कलह का मुख्य कारण थी। उसी मनोवृत्ति का सक्षेप में हम यहां थोड़ा दिग्दर्शन करायेगे।

विष्णु तथा विष्णु के अवतारों की प्रशसा करते हुये पद्म-पुराण लिखता है—

राघव सर्वदेवाना पालन. पुरुषोत्तमाः ॥११५
स्पृष्टा दृष्टाश्च ते नैव विमलाः शङ्करादयः ॥११६

प० पु० उत्त० ख० अ० २२५

सब देवो मे पवित्र पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र है। जिनके स्पर्श और दर्शन से महादेवादि निर्मल हो गए।

कस्तेन तुल्यतामेति देवदेवेन विष्णुना।
यस्यांशांशावतारेण विना सर्व विलीयते ॥३२७

प० पु० पाताल ख० ६७।

देवो के देव विष्णु की बराबरी कौन कर सकता है? जिसके अंशांश अवतार के बिना सब विलीन हो जाते हैं।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्म रुद्रादि दैवतैः।

समत्वेनैव वीक्षेत् स पाषण्डी भवेत्सदा ।।९

प० पु० उत्तर खंड अ० २६३

जो विष्णु को ब्रह्म और रुद्रादि देवो के समान समझता है, वह सदा पाखण्डी है।

किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येप्यवैष्णवाः।
नस्प्रष्टव्या न वक्तव्या न द्रष्टव्याः कदाचन ।।११

प० पु० उ० ख० २६३

अधिक क्या कहे जो विष्णु के सिवाय किसी भी देवता को मानेगा, उससे बात करना, उससे छूना तथा उसको देखना पाप है।

अनर्च्या ब्रह्मरुद्राद्या रजतमोविमिश्रताः।
त्व शुद्धसत्वगुणवान् पूजनीयोऽग्रजन्मनाम्। ६०

ब्रह्मा और शिव रजोगुण और तमोगुण युक्त हैं अत ये पूजन योग्य नही है। हे विष्णु आप सतोगुण युक्त हो अतः आप ही ब्राह्मणो द्वारा पूजे जाने योग्य है।

इतरेषा तु देवनामन्नं पुष्पं जलं तथा।
अस्पृश्यन्तु भवेत्सर्वं निर्माल्य सुरया समम्। ६३

अन्य देवताओ का अन्न, पुष्प और जल छूने योग्य भी नही है, किन्तु सारा चढावा मदिरा के समान होता है।

इसी पुराण मे शिवजी द्वारा ही उनकी निन्दा निम्न श्लोकों मे कराई गई है—

देवतानां हितार्थाय वृत्तिः पाषण्डिनां शुभे।
कपालचर्मभस्मास्थि धारणा तत्कृतं मया ।।५३
ये मे मतमाश्रित्य चरन्ति पृथिवीतले।
सर्वधर्मैश्च रहिताः पश्यन्ति निरयं सदा ।।६०

(प० पु० उ० ख० अ० २६६ आनन्द आश्रम प्रेस पूना)

शिवजी कहते है—हे शुभ पार्वती देवों के हित के लिये कपाल भस्म और अस्थि रखने वाली पाखण्डियो की वृत्ति मैंने धारण की है। जो मेरे मत को धारण कर पृथिवी पर आचरण करेंगे वे सारे धर्मो से भ्रष्ट होकर नरक को देखेगे।

पुराकदाचिद्योगीन्द्र विष्णुर्विषधरासन: ।
सुष्वाप परया भूत्या स्वानुगंरपि सुवृत. ।।१
यदृच्छयागतस्तत्र ब्रह्मा ब्रह्म विदावर: ।
अपृच्छत् पुण्डरीकाक्ष शयान सर्व सुन्दरम् ।।२
कस्त्व पुरुषवच्छेरे दृष्ट् वामामपि दृप्तवत् ।
उत्तिष्ठ वत्स मा पश्य मव नाथमिहागतम् ।।३
आगत गुरुमाराध्य दृष्ट्वा यो दृप्तवच्चरेत् ।
द्रोहिणस्तस्य मूढस्य प्रायश्चित विधीयते ।।४
इतिश्रुत्वा वच: क्रुद्धो वहि. शान्त वदाचरन् ।
स्वस्ति ते स्वागतं वत्स तिष्ठ पीठमितो विश ।।५

ब्रह्मोवाच.—

किमु ते व्यग्रवद्वक्त्र विभाति विषमेक्षणम् ।
वत्सविष्णो महामानमागत काल वेगत: ।।६

विष्णुरुवाच:—

पितामहश्च जगत पाता च तव वत्सक ।
मत्स्य जगदिद वत्स मन्ये त्व हि चोरवत् ।।७

नन्दिकेश्वर उवाच:—

अहमेव वरो न त्वमहं प्रभुरह प्रभु ।
परस्पर हन्तु कामौ चक्रतु: समरोद्यमम् ।।८

शिवपुराण विद्य० ख० १ अ० ६

हे योगीन्द्र ! आगे एक समय विष्णु भगवान शेष शय्या पर अपने गरुड आदि पार्षदो से सयुक्त लक्ष्मी सहित शयन करते थे ।।१।। उस समय ब्रह्मज्ञानियो में श्रेष्ठ ब्रह्मा जी अपनी इच्छा से ही वहाँ आये और सब प्रकार सुन्दर सेज पर शयन करते हुए कमल लोचन विष्णु जी से पूछने लगे ।२।। तुम कौन हो जो मुझे देख कर अभिमानी पुरुष के समान शयन करते हो ? हे वत्स ! उठो, देखो मै तुम्हारा स्वामी आया हूं ।३।। आये हुए गुरु को देखकर जो अभिमान करता है, उस द्रोही मूढ का प्रायश्चित होना उचित है ।४।। यह सुनकर विष्णु जी के अन्तर में तो क्रोध हुआ, परन्तु वाहर से शान्त रहे और बोले हे वत्स ! तुम्हारा मङ्गल हो, बैठो, इस आसन पर विराजो ।५।। इस समय तुम्हारा नेत्र कुटिल और मुख व्यग्र हो रहा है। ब्रह्मा जी बोले हे वत्स ! विष्णु ! तुमको समय के प्रभाव से अभिमान है ।६।। हे पुत्र ! मैं तुम्हारा रक्षक और जगत का पिता हूँ। विष्णु जी बोले, यह तो सब जगत मुझ मे स्थित है तुम चोर के समान किस प्रकार अपना कहते हो ।७। मैं श्रेष्ठ हूं, मै स्वामी हूं ऐसा कह कर एक दूसरे को मारने को इच्छा से वे दोनो युद्ध करने को तैयार हो गये ।८।

स्व-सम्प्रदाय के तिलक, कण्ठी आदि वाह्य चिन्हो की प्रशंसा तथा अन्य सम्प्रदायों के चिह्नो की निन्दा भी इस साम्प्रदायिक सघर्ष का एक विशेष अङ्ग था। वैष्णव सम्प्रदाय के ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा शंख चक्र चिह्नो की प्रशसा एवं शैवो के भस्म धारण करने की निन्दा का नमूना नीचे देखिये:—

न तस्य किंचिदश्नोयादपि क्रतुसहस्रिण. ।
सर्वं वेदविदो वापि सर्वशास्त्र विशारद. ।४२।
अधृत्वा विधिना चक्रं ब्राह्मण: पतितो भवेत् ।

ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु शखचक्रविवर्जित. ।।४३।।
त गर्दभे समारोप्य वहि. कुर्यात् स्वपत्तनात् ।।४४।।
पद्म पु० उ० । अ० २५३

जो हजार यज्ञ करे सम्पूर्ण वेद या सर्व शास्त्रो का ज्ञाता हो तथापि जो ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा शंख चक्र, धारण नही करता, वह ब्राह्मण पतित हो जाता है। ऐसे लोगों को गधे पर चढा कर नगर से वाहर निकाल देना चाहिए। आगे और देखिये:—

यच्छरीर मनुष्याणामूर्ध्वपुण्ड्रविवर्जितम् ।
द्रष्टव्य नैव तत् किंचित् श्मशानमदृशं भवेत् । १२
ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु सध्याकर्मादिक चरेत् ।
तत् सर्वं राक्षसैर्नीत नरक चाधिगच्छति ।।१३

जिस मनुष्य के मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र न हो, उसको कभी भी नही देखना चाहिये। वह मस्तक श्मशान के सदृश है ।१२। जो मनुष्य ऊर्ध्वपुण्ड्र के विना सध्यादि करता है, वह नरक को जाता है।

ब्राह्मण' कलजो विद्वान् भस्मधारी भवेद्यदि ।
वर्जयेत्तादृशं देवि मद्योच्छिष्ट घट यथा ।।१९

यदि कुलीन ब्राह्मण माथे पर भस्म लगावे, तो उसका मदिरा से भरे घट के समान दर्शन न करे।

शिवपुराणादि शैव ग्रन्थ, शिव की प्रशसा से परिपूर्ण है किन्तु विष्णु, ब्रह्मा एव शक्ति की उपासना तथा उनके वाह्य चिन्हो की भरपूर निन्दा करते है। शिव पुराण केवल शिव को ही ब्रह्म वताता है, शेष देवता अथवा अवतार उसकी दृष्टि में जीव मात्र है:—

शिवैको ब्रह्म रूपत्वान्निष्कल परिकीर्तित. ।।१०

निष्कलत्वान्निराकारं लिंगम् तस्य समागतम् ॥११
अब्रह्मत्वात्तदन्येषा निष्कलत्वं नहिक्वचित् ॥१३
ब्रह्मत्वाच्च जीवात्वात्तथान्ये देवता गणाः ॥१४
जीवत्वं शङ्करान्येपा ब्रह्मत्वं शङ्करस्य च ॥१५
शिवान्येपा च जीवत्वात् सकलत्वाच्च सर्वतः ॥२२
शि० पु० विद्ये० सं० अ० ५

शिव ही एक ब्रह्मरूप होने से निष्कल कहलाते हैं। १०। निष्कल होने से निराकार ही उसका स्वरूप और चिन्ह है। ११। शिव जी को छोड़ कर और देवता ब्रह्म नही अतः वे निष्कल नही हो सकते ।१३। दूसरे देवता ब्रह्म नही जीव हैं। १४। शङ्कर के अतिरिक्त औरो मे जीवत्व और शङ्कर मे ब्रह्मत्व है। १५। शिव से अन्य देवता जीवरूप होने से सब प्रकार कलायुक्त ही हैं (निष्कल नही) २२।

शिव सामान्य वक्तारं शिव सामान्य दर्शिनं ।
दृष्टवा स्नायात् सचैलं सन् शिव सामान्यसञ्ज्ञिनम् ॥७५

जो शिव के समान अन्य देवों को बतलाता है वा शिव समान देखता है, उसको देख कर कपड़ो सहित स्नान करना चाहिए।

महेशस्यैव दासोऽयं विष्णुस्तेनानुकम्पितः ॥५

यह बेचारा विष्णु, शिवजी का दास है।

इन्द्रोपेन्द्रादय. सर्वे महेस्यैव किङ्कराः ॥६

इन्द्रादि सब देवता शिव के ही दास हैं।

तेन तुल्यो यदा विष्णुर्ब्रह्मा वा यदि गद्यते ।
पष्टिवर्षं सहस्राणि विष्ठाया जायते कृमि ॥१७
लिङ्ग पु० उत्तर भाग । अ० ११

जो मनुष्य विष्णु, ब्रह्मादि को शिव के समान कहता है, वह ६० हजार वर्ष तक विष्ठा का कीडा बनेगा।

शिवलिङ्गं समुत्सृज्य यजन्ते चान्यदेवताः।
स नृपा सह देशेन रौरव नरक व्रजेत् ॥३५॥
शिवभक्तो न यो राजा भक्तोऽन्येषु सुरेषु च।
स्वपतिं युवतिस्त्यक्त्वा यथा जारेषु राजते ॥३६॥

लिङ्ग पु० उत्तरभाग। अ० ११

शिवलिङ्ग की पूजा छोड कर जो अन्य देवताओं की पूजा करता है, वह राजा अपने देश सहित रौरव नरक मे जाता है। जो राजा शिव की भक्ति न करके अन्य देव की भक्ति करता है, वह उस युवति के समान है, जो अपने पति को छोड कर जार पुरुप के साथ भोग करती है ॥३६

शैव ग्रन्थो मे शिव द्वारा ब्रह्मा तथा विष्णु को युद्ध में पराजित करने का भी अनेक स्थानों पर वर्णन है। शिवाज्ञा से भैरव ने ब्रह्मा का पाँचवा शिर काट लिया और शिवजी ने विष्णु-अवतार नरसिंह की जो दुर्दशा की; उसका वर्णन पुराणो के ही शब्दो मे हम नीचे देते है:—

नन्दिकेश्वर उवाच.—

ससर्जाथ महादेव. पुरुषं कञ्चिदद्भुतम्।
भैरवाख्य भ्रुवो मध्याद् ब्रह्मदर्पजिघासया ॥१
सवै तदा तत्र पतिं प्रणम्य शिवमागणे।
किं कार्यं करवाण्यत्र शीघ्रमाज्ञापय प्रभोः ॥२
वत्स योऽयं विधिं साक्षाजगतामाद्यदैवतम्।
नूनमर्चय खड्गेन तिग्मेन जवसा परम्। ३

सर्वै गृहीत्वैककरेण केश, तत्पंचमं दृप्तमसत्यभाषिणम् ।
छित्वा शिरोह्यस्य निहन्तुमुद्यतः प्रकम्पयन्खड्ग मतिस्फुटं करैः। ४।
पिता तवोत्सृष्ट विभूषणाम्बरस्त्रगुत्तरीयामलकेश सहितः ।
प्रवालरम्भेव लतेव चञ्चलः पपात वै भैरव पाद पङ्कजे ॥ ५ ॥

नन्दिकेश्वर वोले—तब महादेव जी ने ब्रह्माजी का मद दूर करने के लिए अपनी भृकुटी के मध्य से एक अद्भुत पुरुष भैरव की रचना की ।१। उत्पन्न होते ही समराङ्गण मे उस पुरुष ने शिवजी को प्रणाम किया और कहा भगवान् ! मै क्या करू ? शीघ्र आज्ञा दीजिये ।२। शिवजी ने कहा—हे वत्स ! यह जो जगत् के आदि देवता ब्रह्मा हैं, इनकी तीक्ष्ण धार वाले वेगवान् खड्ग से पूजा करो अर्थात् प्रहार करो । ३ । यह सुनते ही भैरव ने एक हाथ से केश पकड़ कर ब्रह्माजी का पाँचवाँ असत्यभाषी शिर काटते हुए खड्ग से उनके और भी शिर काटने की इच्छा की । ४ । तव तुम्हारे पिता ब्रह्माजी आभूषण, माला और उत्त-रीय वस्त्र त्याग केश खोले हुए, वायुवेग से केला और लता के समान कम्पित, भैरव के चरणों में गिर पड़े । ५ ।

सहस्र वाहुर्जटिलश्चन्द्रार्द्ध कृत शेखरः ।
समृद्धोऽग्रशरीरेग पक्ष्म्यांचञ्चुना द्विज. ॥८॥
अत्ति तीक्ष्णो महादंष्ट्रो वज्रतुल्यनखायुध. ।
कण्ठे कालो महावाहुश्चतुष्पाद् वह्निमन्निभः ॥९॥
हरिस्तद्दर्शनादेव विनष्टवलविक्रमः ।
विभ्रद्धाम सहस्रांशोरघः खद्योतविभ्रमम् ॥१२॥
अथ विभ्रम्य पक्षाभ्यां नाभिपादान् विदारयन् ।
पादान्वन्वे पुच्छेन वाहुभ्या वाहुमण्डलम् ॥१३॥
भिन्दन्नुरसि वाहुभ्या निजग्राह हरो हरिम् ।
ततो जगाम गगनं देवैस्सह महर्षिभिः ॥१४॥

उड्डीयोड्डीय भगवान् पक्षघात विमोहितम् ।
हरिर्हरस्त वृपभं विवेशानन्त ईश्वर. ॥१६॥

सहस्रो भुजाधारी, जटा रक्खे, अर्ध चन्द्रमा को मस्तक पर धारण किये, भयङ्कर शरीर से युक्त पखों तथा चोच से शोभायमान ।८। अति तीक्ष्ण दाढ़ो वाले, वज्र के समान नख रूप शस्त्र धारे, कण्ठ मे काल, दीर्घ भुजा वाले चार चरण सहित अग्नि के समान शङ्कर नृसिह के सामने प्रकट हुए ।६। उनके दर्शन मात्र से नृसिह का बल पराक्रम नष्ट हो गया, जैसे सूर्य के तेज से जुगनू का तेज नष्ट हो जाता है । १२ । तब अपने पक्षो को घुमा कर नाभि और चरणो को विदीर्ण करते हुए, तथा पूछ से पैरो को, और दोनो भुजाओ से नृसिह की भुजाओ को बाँधा । १३ । भुजाओ से हृदय को भेदन करते हुए शिव ने उन नृसिहरूपधारी विष्णु को ग्रहण किया और देवता-महर्षियों के देखते-देखते आकाश को चले गये । १४ । उड़-उड कर भगवान् शिव ने पक्षो से विष्णु को व्याकुल कर दिया, तब विष्णु बैल के नीचे छुप गये ।१६।

यह सम्प्रदाय भी, शैव चिन्हो की प्रशसा तथा अन्यो की निन्दा मे दूसरे सम्प्रदायो से पीछे नही है । इसकी दृष्टि मे जो लोग भस्म, त्रिपुण्ड तथा रुद्राक्ष धारण नही करते, वे पातकी हैं —

उद्धूलन त्रिपुण्ड च श्रद्धया नाचरन्ति ये ।
तेपां नास्ति समाचारो वर्णाश्रमसमन्वित: ॥१३॥
ते महापातकैर्युक्ता इति शास्त्रीयनिर्णय: ॥१६॥

दे० भा० स्क० ५ अ० ६ ।

जो भस्म और त्रिपुण्ड को श्रद्धा से धारण नही करते, उनका वर्णाश्रम युक्त आचरण नही है । १३ । वे महापातकी हैं यह शास्त्रीय निर्णय है ।१६।

नाश्नीयाज्जलमन्नमल्पमपि वा भस्माक्षधृत्या विना ।
भुक्त्वा वाथ गृही वनी यतिमती वर्णी तथा सङ्करः ।
एनोभुङ् नरक प्रयाति ॥४३॥
धिग्भस्मरहितं भाल धिग्ग्रामगिवालयम् ।
धिगनीशार्चनं जन्म धिग्विद्यामगिवाश्रयाम् ।४५॥
ते वै सङ्कर सुकरासुरखरश्वक्रोष्ट्र कीटोपमाः ।
जाता एव भवन्ति पापपरमास्ते नारका. केवलम् ॥४७॥

दे० भा० ५-९

जो भस्म और रुद्राक्ष धारण नही करते उनका थोड़ा भी अन्नजल ग्रहण न करे। गृहस्थी, वनी, यति, वर्णी अथवा सङ्कर जाति, इनके यहाँ का भोजन करके पाप खाने वाला होता है और नरक को जाता है। ४३। भस्म रहित मस्तक, शिवालय रहित ग्राम, ईश के अर्चन रहित जन्म, शिवाश्रयहीन विद्या को धिक्कार है। ४५। जो तीनो जगत् के आधार शङ्कर की निन्दा करता है और जो त्रिपुण्ड धारण करने वाले की निन्दा करते है उनके दर्शन मे दोष है। ४६। वे निश्चय ही वर्णसङ्कर, शूकर असुर, खर, श्वान, गीदड, कीट के समान हैं। वे पापरूप उत्पन्न हुए है। केवल नरक में ही जाने को जन्म लिया है।

देवी भागवत शाक्तो का एक मात्र पुराण है। इसने विष्णु तथा विष्णु-अवतार राम, कृष्णादि की निन्दा करने मे कोई कोर कसर नही छोडी। सबको ही जी भर कर नीचा दिखाया है। अवतारो को पिछले दुष्कर्म तथा शापो का परिणाम बताया है। शिव और ब्रह्मा की निन्दा तथा निकृष्टता का भी स्थान स्थान पर वर्णन है।

देवी भागवत मे एक कथा आती है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनो देवी के दर्शन करने गये। देवी ने तीनो को स्त्री

वना दिया। ब्रह्मा कहते है कि हे नारद ! मैंने जो वहाँ देखा सुनो:—

शृणु नारद तत वक्ष्यामि यद्दृष्ट तत्रचाद्भुतम् ।
नख दर्पण मध्ये वै देव्याश्चरण पङ्कजे ॥१४॥
ब्रह्माण्डमखिल सर्व तत्र स्थावर जङ्गमम् ।
अह विष्णुश्च रुद्रश्च वायुरग्निर्यमो रवि: ॥१५॥
वरुण. शीतगुस्त्वष्टा कुवेर: पाकशासन ।
पर्वता सागरा नद्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥१६॥
वैकुण्ठो ब्रह्मलोकश्च कैलास पर्वतोत्तम ।
सर्व तदखिल दृष्ट नखमध्यास्थित च न: ॥१६॥
मज्जन्म पङ्कज तत्र स्थितोऽह चतुरानन. ।
शेषशायी जगन्नाथस्तथा च मधुकैटभौ ॥२०॥
विष्णुश्च विस्वमाविष्ट शकरश्च तथा स्थित: ।
ता तदा मेनिरे देवी वय विश्वस्य मातरम् ॥२२॥

दे० भा० स्क० ३ अ० ४ (वेङ्कटेश्वर प्रेस वम्बई)

देवी के चरण कमल के नख के मध्य मे सव स्थावर जङ्गम ब्रह्माण्ड तथा विष्णु, रुद्र, वायु, अग्नि, यम, सूर्य, वरुण, चन्द्रमा, त्वष्टा, कुवेर, पर्वत, सागर, नदी, गन्धर्व, अप्सरा, वैकुण्ठ. ब्रह्मलोक, पर्वतो मे उत्तम कैलाश, यह सव वस्तु हमने स्थित देखी। (१४, १५, १६, १६) और कमल के मध्य से अपना जन्म तथा कमल पर अपने को स्थित देखा। शेषशायी जगन्नाथ और मधुकैटभ को देखा। २०। विष्णु और शङ्कर भी आश्चर्य मे मग्न हुए। तव हम सवने विश्व की माता को पहचाना। २२।

तदनन्तर अत्यन्त नम्र तथा दीन भाव से ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव द्वारा देवी की स्तुति का विस्तृत वर्णन है जिसे

विस्तार भय से हम यहाँ उद्धृत नही करते ।

विष्णु के अनेक अवतारो का कारण भृगु ऋषि का शाप वताते हुए देवी भागवत मे विष्णु को अत्यन्त अपमानित करने का प्रयत्न किया गया है । इन्द्र के कहने पर विष्णु ने अपने सुदर्शन चक्र से भृगु की पत्नी का शिर काट लिया । उसके मरने पर दु खी हो कर भृगु ने जो शाप दिया, वह निम्नांकित है:—

अकृतं ते कृतं विष्णु जानन् पाप महामते ।
वधोऽयं विप्रजाताया मनसा कर्त्तु मक्षम. ।।२।।
तामसस्त्वं कथं जात कृतं कर्मातिनिन्दितम् ।
अवध्या स्त्री त्वया विष्णो हता कतिनिन्दिरागसा ।।४।।
शपामि त्वा दुराचार किमन्यत्प्रकरोमि ते ।
विधुरोऽहं कृत: पाप त्वयाऽय शक्रकारणात् ।।५।।
न शपेऽहं तथा शक्र शपे त्वा मधुसूदन ।
सदा छल परोऽसि त्व कीटयोनिदुराशय. ।।६।।
ये च त्वा सात्विकं प्राहुस्ते मूर्खा मुनय: किल ।
तामसस्त्वं दुराचार: प्रत्यक्ष मे जनार्दन ।।७।।
अवतारा मृत्युलोके सन्तु मच्छापसम्भवा ।
प्रायो गर्भभव दु:ख भुक्ष्व पापाज्जनार्दन ।।८।।

दे० भा स्क० ।४। अ० १२

हे मधुसूदन ! तुमने अत्यन्त वुद्धिमान् होकर भी जान कर ऐसा अकार्य किया । जिस विप्र कन्या का वध मन से भी नही विचारा जा सकता उसको तुमने साक्षात् कर डाला । २ । हे विष्णु ! तुमने किस लिये तमोगुण-युक्त होकर अतिनिन्दित कर्म किया ? स्त्री जाति अवध्य है । तुमने विना अपराध इस अवला को क्यो मारा ? ।४। तुम्हारा यह आचरण अत्यन्त

निन्दित है। इस समय मैं तुम्हारा क्या करूं ? तुमको शाप देना ही उचित है। हे पापिष्ठ ! तुमने इन्द्र के कारण मुझको विधुर बना दिया। ५। मैं इन्द्र को शाप न देकर तुमको ही शाप दूंगा। तुम सदा सर्प की भांति कपट व्यवहार करते हो। तुम दुष्ट हो।६। जो मुनि तुमको सतोगुणी कहते हैं वे अत्यन्त मूर्ख हैं। तुम तामसी और दुराचारी हो, यह मैंने आज प्रत्यक्ष जान लिया।७। तुम मेरे शाप से मृत्युलोक मे अनेक वार अवतार लोगे और गर्भ की यन्त्रणा द्वारा अपने पाप का फल भोगोगे।८।

इसी पुराण मे आगे फिर लिखा है:—

शप्तो हरिस्तु भृगुणा कुपितेन काम मीनो वभूवकमठः खलु सूकरस्तु। पश्चान्नृसिंह इति यच्छलकृद्धरायां तान्सेवतां जननि मृत्युभयं न किं स्यात् ॥१८॥ दे० भा० स्कं० ५। अ० १६ ॥

हे जननि ! प्रकुपित भृगु मुनि के शाप से ही हरि पृथ्वी में मीन, कूर्म, शूकर, नृसिंह और वचनातत्पर वामन इत्यादिक रूप धारण करके अवतीर्ण हुए थे। इसमे उनकी पराधीनता ही है। जो इन पराधीन अवतारो की सेवा करते हैं उनको मृत्यु-भय क्यो न होगा ?

किं चित्रं नृप देवी सा ब्रह्मा विष्णु सुरानपि।
नर्तयत्यनिशं माया त्रिगुणानपरान् किम् ॥
गर्भवासोद्भवं दुःख विण्मूत्रस्नायु संयुतम्।
विष्णोरापादितं सम्यग् यया विगत लीलया ॥
पुरा रामावतारेऽपि निर्जरा वानराः कृताः।
विदित ते तथा विष्णु दुःखपाशेन मोहितः ॥६

दे० भा० स्क० ४। अ० २०

हे नृपते ! त्रिगुणा माया देवी ब्रह्मा विष्णु इत्यादि देवगणों

को भी नचाती रहती है, वह जो अन्य को मोहित करे तो इस में आश्चर्य ही क्या है ?

हे राजन् ! उस महामाया की लीला तो सिद्ध ही है। अधिक क्या ? उसने विष्णु को भी भली भाँति से मलमूत्र और स्नायु परिपूरित गर्भ मे वास कराकर दु:ख दिया था। ५। पूर्व काल मे रामावतार के समय उसने देवगणो को वानर बना दिया था। हे राजन् ! इस प्रकार माया पाश मे बँध कर भगवान् विष्णु ने जो दु:ख भोगा था वह तुम भलीभाति जानते हो।६।

इस भाँति इस पुराण मे ब्रह्मा, विष्णु शिव, इन्द्र, राम, कृष्ण, परशुराम, बुद्ध आदि सब ही देव और अवतारो के एक-एक करके दोष गिनाये है और उन्हे पापयुक्त सिद्ध किया गया है। हम उन उद्धरणो को विस्तार भय से यहां नही देते।

शाक्त भी मस्तक पर भस्म लगाते हैं अतः भस्म न धारण करने वाले का जन्म जन्मान्तर मे चाण्डाल होना बताया गया है:-

न यस्य सहजा प्रीतिर्मणिवद् भस्मसंग्रहे ।
स चाण्डाल इति ज्ञेय. जन्मजन्मान्तरे ध्रुवम् ॥

दे० भा० ११।१५।१५

ब्रह्मा:—

ब्रह्मा को पुराणो में विशेष महत्व नही दिया गया और न वैष्णव, शैव तथा शाक्तों के समान ब्रह्मा के नाम से कोई पृथक् सम्प्रदाय अथवा पुराण ही है। कुछ अपवादो को छोड़ कर ब्रह्मा की मूर्तिपूजा का भी इस देश मे प्रचलन नही है। केवल पुष्कर ही एक तीर्थ स्थान है जहाँ ब्रह्मा का मन्दिर है। ब्रह्मा को बहिष्कृत किये जाने के सम्बन्ध में पद्मपुराण में एक कथा आती है। ब्रह्मा ने पुष्कर मे एक यज्ञ किया। यज्ञ मे ब्रह्मा

की पत्नी सावित्री के आने मे देर होगई। तब इन्द्र ने एक गोप कन्या को लाकर ब्रह्मा का गाधर्व विवाह करके यज्ञ मे बिठला दिया और यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। तत्पश्चात् सावित्री भी आगई। ब्रह्मा के इस कृत्य की उसके आलोचना करने पर ब्रह्मा ने कहा कि इसमे मेरा दोष नही। यज्ञ मे देर हो रही थी, इन्द्र ने इस स्त्री को ला दिया, विष्णु भगवान् ने भी इस का अनुमोदन किया अतः हमने इसे ग्रहण कर लिया। हमारे अपराध को क्षमा करो। तब सावित्री ने शाप दिया कि आज से कीर्तिकी पूर्णिमा के अतिरिक्त तुम्हारी पूजा न होगी :—

नैव ते ब्राह्मण पूजां करिष्यन्ति कदाचन।
ऋते तु कार्तिकीमेका पूजां सांवत्सरीं तव ॥

इसी प्रकार शिवपुराण विद्येश्वरी सहिता अध्याय ६ मे एक अन्य कथा द्वारा ब्रह्मा की पूजा का निषेध किया गया है। कथा इस प्रकार है कि एक वार ब्रह्मा और विष्णु मे अपने महत्व पर विवाद चल पडा और दोनो मे घोर युद्ध हुआ। देवता उसे शात कराने के लिए शिव के पास गये। शिव ने आकर दोनो के मध्य एक स्तम्भ को इतना बढाया जो आकाश और पाताल में पूर्ण हो गया। और ब्रह्मा तथा विष्णु से कहा कि तुम दोनों मे जो इसका अन्त देख आयगा वही इस जगत् मे सब देवो मे महान् समझा जायगा। तब वे दोनो सैकडो वर्ष उसका अन्त ढूढते रहे परन्तु अन्त न पा सके। विष्णु ने आकर सत्य कह दिया कि मुझे इसका अन्त नही मिला किन्तु ब्रह्मा ने झूठ बोला कि मुझे इसका अन्त मिल गया। इस पर शिव ने प्रसन्न होकर कहा— विष्णु ने सत्य बोला है अतः जगत् मे उनकी मूर्ति की पूजा होगी—

इत. पर ते पृथगगर्चनं क्षेत्रप्रतिष्ठोत्सवपूजनं च।

और ब्रह्मा से कहा—तुमने असत्य भाषण किया है अतः तुम्हारी पूजा नही होगी:—

नातस्ते सत्कृतिर्लोके भूयात्स्थानोत्सवादिकम् ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण जन्म खण्ड अ० ३२ में भी इसी आशय की एक कथा दी हुई है, जिसके द्वारा ब्रह्मा को अपूज्य ठहराया गया है। वहाँ लिखा है कि विष्णु की प्रिया मोहनी एक बार कामातुर होकर ब्रह्मा पास गई। ब्रह्मा ने विष्णु की प्रिया होने के कारण इसका निषेध किया तब मोहनी ने ब्रह्मा को शाप दिया कि जाओ तुम्हारी ससार मे पूजा न होगी। ब्रह्मा ने विष्णु को जाकर समस्त वृतान्त सुनाया। विष्णु ने शाप दूर करने का उपाय गङ्गा स्नान बताया और कहा कि तुम्हारी पृथक् पूजा तो न होगी, किन्तु अन्य देवो के साथ होगी —

यदन्यदेवपूजायां तव पूजा भविष्यति ।

उपर्युक्त सभी कथाए विचित्र हैं, जिनमे किसी न किसी प्रकार ब्रह्मा के शिर दोष मढकर उसकी पूजा का निषेध किया गया है। अन्यथा पुराणों मे विष्णु और शिव को कलङ्कित करने वाली कथाओ की ब्रह्मा से कही अधिकता है। फिर ब्रह्मा को ही क्यो लक्ष्य बनाया गया है ? हमारा विचार है कि अब्राह्मणो ने जिनका कि मूर्तिपूजा के प्रचार मे विशेष हाथ है, ब्राह्मणत्व के प्रतीक ब्रह्मा को अपमानित करने के लिए ही इन कथाओ की रचना की और उसे अपूज्य ठहराया।

जैसा कि हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं मूर्तिपूजा का जन्म बौद्ध-काल मे हुआ और सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति इस देश मे पूजी जाने लगी। भगवान् बुद्ध स्वयं क्षत्रिय वंशज थे और उनका

प्रचार-क्षेत्र भी स्वभावत ब्राह्मणेतर जातियों मे ही रहा। बौद्धो की देखा-देखी बौद्ध धर्म के ह्रास के पश्चात् बुद्ध की मूर्ति का स्थान 'महेश्वर' और 'विष्णु' ने ले लिया। यह दोनो काल्पनिक देव भी ब्राह्मणत्व का प्रतीक न होकर क्षत्रियत्व का ही विशेप रूप से प्रतिनिधित्व करते है। सहार और पालन शक्ति क्षत्रियत्व का ही प्रतीक है। शाक्तो की 'शक्ति-पूजा' तो 'क्षात्र-धर्म' प्रधान है ही।

विष्णु के मुख्यावतार 'राम' तथा 'कृष्ण' जिनकी पूजा का इस समय समस्त देश मे प्रचार है और जिन्हे पूर्णावतार माना जाता है, क्षत्रिय वशज ही थे। समस्त अवतारो मे 'परशुराम' ही ब्राह्मण माने जाते हैं, जिनकी कही भी पूजा नही होती। अत ब्राह्म धर्म के प्रतीक, वेदोपदेष्टा, याज्ञिक ब्रह्मा अथवा उसकी मूर्ति का ब्राह्मणेतर जातियो तथा क्षत्रिय राजाओ की राज्यवृत्ति पर पलने वाले लोलुप ब्राह्मणो द्वारा पुराणो मे बहिष्कार करने का प्रयत्न कोई आश्चर्य की बात नही है।

ब्रह्मा वैदिक-ज्ञान का आदि प्रचारक है। यज्ञानुष्ठान के चार ऋत्विजो मे 'ब्रह्मा' का मुख्य स्थान है। किन्तु शैव, शाक्त एव वैष्णव, सम्प्रदायो मे वेद के स्थान पर अपने-अपने पुराणो और यज्ञ के स्थान पर अपने अपने उपास्य देवो की मूर्तियो तथा मठ-मन्दिरो को प्रधानता दी गई है। शाक्त, यज्ञानुष्ठान करते है, किन्तु उसमे मास मदिरा की आहुति तथा पशुबलि के पोपक है, जो सर्वथा अवैदिक कर्म है।

पुराणो मे ऐसी कथाए भी है, जिनमे शिव ने यज्ञो का विध्वस किया। पद्मपुराण सृष्टि खड अ० १७ मे एक कथा आती है कि एक समय ब्रह्मा यज्ञ कर रहे थे। महादेव यज्ञशाला मे भिक्षा मागने के लिये पञ्चसूत्र धारण किए तथा एक बड़ी

खोपड़ी हाथ में लिए ऋत्विज के समीप आकर बैठ गये। यह देखकर वेदपाठी ब्राह्मणो ने कहा कि तुम इस प्रकार का निन्दित वेश बनाए यज्ञशाला मे कैसे चले आये? उन्हें यज्ञशाला से निकालने के अनेक प्रयत्न किये गये, किन्तु वह न गये। अन्त मे उन्हें भोजन कराकर सन्तुष्ट किया गया। तब कही यह कहकर कि हम पुष्कर स्नान के लिये जा रहे हैं वे वहाँ से टले, किन्तु अपना कपाल वही यज्ञ शाला मे ही छोड़ गये जिसे ब्राह्मणों ने बाहर फेंक दिया। एक कपाल के फेंके जाने पर दूसरा कपाल वहाँ दिखाई देने लगा। इस प्रकार एक कपाल के फेंके जाने पर वहाँ फिर दूसरा कपाल उपस्थित हो जाता था। और हजार तक फेंके जाने पर भी उनका अन्त नही हुआ। विवश होकर ब्राह्मण, ब्रह्मा सहित पुष्कर गये और शिव को बडी स्तुति-प्रार्थना करने पर वह कपाल वहाँ से हटा। एक मन्वन्तर बीत जाने पर पुन: ब्रह्मा के यज्ञ में शिवजी आ उपस्थित हुए। इस बार भी वह अपने उसी नग्न वेश मे उपस्थेन्द्रिय को हाथ मे लिये यज्ञमडप में आगये। लोगो ने उन्हे पुन: धिक्कारा और घसीट कर बाहर कर दिया और कहा कि स्त्रियों की उपस्थिति मे तुम्हारा इस प्रकार प्रवेश निन्दनीय है। इस पर क्रुद्ध होकर शिव ने ब्राह्मणो को अनेक शाप दिये।

एक दूसरी कथा शिव द्वारा अपने श्वसुर राजा दक्ष के यज्ञ विध्वंस की इसी पद्म पुराण सृष्टि खड अ० ५ में आई है। दक्ष ने अपने यज्ञ मे शिव को आमन्त्रित नही किया। उसका कारण दक्ष ने जो पार्वती को बताया, वह शिव के आसुरी कापालिक स्वरूप का भली प्रकार दिग्दर्शन कराता है। दक्ष ने कहा—तुम्हारे पति खोपडी का पात्र लिये रहते हैं। चर्म ओढते है, चिता की भस्म लगाते हैं और नगे रहते हैं। श्मशान भूमि मे निवास

करते है एव व्याघ्र चर्म धारण करते हैं। हाथी का चर्म भी ओढते है जिसमे रक्त के विन्दु टपकते रहते है। मरे हुए मनुष्यो के कपालो की माला गले मे पहने रहते है। इन्ही अनेक कारणो से हमे लज्जा आती है और उन्हे अन्य देवो के साथ आमन्त्रित करके, उनके साथ विठाने मे सकोच होता है।

शिव के इस प्रकार अपमानित होने पर उनके प्रमुख गण वीरभद्र ने अन्य गणों सहित इस यज्ञ को विध्वस किया। यज्ञ-शाला मे आग लगादी देवताओ को मार गिराया, विष्णु से घोर युद्ध हुआ। अन्त मे विष्णु परास्त हुए और उनका शिर काट कर यज्ञ कुण्ड मे डाल दिया। ऋषि, मुनि इधर-उधर भागने लगे। 'सरस्वती' और 'वेदमाता' की नासिका वीरभद्र ने अपने तीक्ष्ण नखो से उखाड़ ली और प्रजापति का शिर काट कर अग्नि मे दग्ध कर दिया इत्यादि। यह विस्तृत कथा शैव सम्प्रदाय की वेद एव यज्ञ विरोधी प्रवृत्ति का भली भाँति चित्रण करती है।

उपर्युक्त दोनो कथाएं हमारी इस धारणा को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि शैव, वैदिक यज्ञो के विरोधी थे और रामायण काल के राक्षसो की भाँति यज्ञ विध्वसक ही थे। उनकी प्रचलित शिवलिङ्ग पूजा, जिस पर कि हम आगे इसी अध्याय मे पृथक् प्रकाश डालेंगे, वाममार्ग के भैरवी चक्र की स्त्री-पुरुष-गुप्तेन्द्रिय की पूजा की प्रतीक मात्र है। भैरवी चक्र का भैरव भी शिव का एक मुख्य गण है और इस प्रकार इस सम्प्रदाय का शाक्तो के वाममार्ग से निकट का सम्बन्ध है।

वैष्णव यद्यपि मास, मदिरा का घोर विरोध करते है तथापि यज्ञ के स्थान पर मूर्तिपूजा का प्रचलन विशेषत. इसी सम्प्रदाय ने किया है। जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, अवतारवाद तथा

मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन वैष्णवों से ही मिला। भागवत को 'पंचम वेद' बताना, वेद व्यास का वेद-शास्त्र सब ही से अतृप्त होकर भागवत रचने की कल्पना तथा कलियुग में तप, योग, समाधि को निष्फल बता कर केवल राम कृष्णादि के नाम मात्र कीर्तन को ही मुक्ति का सरल मार्ग बताना, यह सस्ते क्रिया कलाप वेदमार्ग से विमुख करने वाले दुष्प्रयास ही कहे जा सकते हैं।

इस सम्प्रदाय की परस्त्री गमनादि व्यभिचार-पूर्ण प्रवृत्ति इसे भी वाममार्ग के निकट ला खडा करती है। इसके उपास्यदेव भगवान विष्णु का जालन्धर की पतिव्रता स्त्री वृन्दा के सतीत्व नष्ट करने की प्रसिद्ध कथा, कृष्णावतार का कुब्जा दासी के साथ सम्भोग, गोप कन्या राधा के साथ अनुचित प्रम एव सम्भोग तथा अन्य इसी प्रकार की कथाये, जिन पर विशेष लिखने की आवश्यकता नही, इस सम्प्रदाय मे व्यभिचार को प्रोत्साहन देने को पर्याप्त है। कृष्ण के साथ, उनकी पत्नियो के होते हुए भी, पूजा मे राधा को स्थान देना, पर-स्त्री गमन के लिए खुला प्रोत्साहन है। इसके परिणाम स्वरूप पुराणो की दृष्टि मे कृष्ण की लीलास्थली व्रज मे किया हुआ व्यभिचार व्यभिचार ही नही। दक्षिण मे इस सम्प्रदाय के सद्गृहस्थो द्वारा अपनी कन्याओं का विष्णुमूर्ति से विवाह करके उन्हे मन्दिरो मे गाने बजाने के लिए छोड देना, समय समय पर इस सम्प्रदाय के गोस्वामियो, साधु-महन्तो द्वारा अपनी चेलियो के साथ होने वाली दुराचारपूर्ण दुर्घटनायें-वाममार्ग के परस्त्री-गमनादि दुष्कृत्यों की पुनरावृत्ति मात्र ही हैं।

पुरी का जगन्नाथ का मन्दिर इस वाममार्ग प्रवृत्ति का एक जीता जागता उदाहरण है। मन्दिर पर अंकित व्यभिचारपूर्ण

चित्र, समस्त वैष्णवो का एक प ंक्ति मे उच्छिष्ट पत्तलों पर सखरा दाल भात का बिना किसी भेद भाव के खान-पान वाम-मार्ग का ही रूपान्तर मात्र है। अत वैष्णव सम्प्रदाय भी वाम-मार्ग के प्रभाव से अछूना नही है। ऐसी अवस्था मे वेद और यज्ञ के प्रर्वत्तक ब्रह्मा का, इन सम्प्रदायो द्वारा वहिष्कार करना अस्वाभाविक नही है।

वेदादि आर्ष धर्म शास्त्रों मे दैनिक पच यज्ञो मे "देव-यज्ञ" का विशेप महत्व है। इसे देव-पूजा भी इसलिये कहा जाता है कि अग्निहोत्र द्वारा आकाशादि पांच भौतिक देवो की पूजा अथवा शुद्धि अभिप्रेत है। इसी 'देव-पूजा' शब्द का इन सम्प्रदायो द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि कल्पित देवो की पूजा अर्थ लगाया जाने लगा और इन ही देवो की मूर्तिपूजा ने कुछ काल मे इस देव यज्ञ का स्थान ग्रहण कर लिया। मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन देने के लिये यज्ञों का महत्व घटना आवश्यक भी था। कालान्तर में जिन यज्ञो का रामायण और महाभारत काल मे सर्वत्र प्रचार था, उनका स्थान विभिन्न प्रकार की मूर्तिपूजा, तीर्थ यात्रा आदि ने ले लिया। जहाँ बडे बडे अश्वमेधादि यज्ञ होते थे, वहाँ अब केवल मूर्तियो के सन्मुख धूप-दीप मात्र शेष रह गया।

शिवलिंग पूजा

हमारे देश मे जिन देव मूर्तियो की पूजा की जाती है, उनमें शिवलिग का एक विशेष स्थान है। अन्य देवो अथवा अवतारो की मूर्तिया उनके समस्त शरीर के आकार को होती हैं, किन्तु शिवलिंग जैसा कि नाम से ही सुस्पष्ट है, शिव की उपस्थेन्द्रिय की आकृति है। उपस्थेन्द्रिय की पूजा जैसा कि हम पूर्व लिख चुके है वाममार्ग के भैरवी चक्र की एक मुख्य प्रक्रिया है। अत यह शिवलिग पूजा भी उसका ही प्रतीक है।

उचित तो यह था कि देश के विचारशील विद्वान मूर्तिपूजा के इस अश्लील तथा अशिष्ट प्रकार के विरुद्ध आवाज उठाते और इसका प्रचार रोकने का प्रयत्न किया जाता, किन्तु इसके विपरीत इन 'शिवलिंग' शब्द की नवीन व्याख्या द्वारा सत्य को छिपाने का अनुचित प्रयत्न किया जाता है जो कि पुराणो मे दी हुई अनेक साक्षियो के भी सर्वथा विपरीत है। इन नवीन व्याख्याताओ का कहना है कि 'लिंग' का अर्थ उपस्थेन्द्रिय न होकर 'चिह्न' है, अत: उनके अनुसार शिवलिंग का अर्थ 'शिव का चिन्ह' हुआ। लिंग का अर्थ निश्चय ही 'चिह्न' है इसमे किसी को विवाद नही हो सकता। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त उपस्थेन्द्रिय ही ऐसा चिह्न है जो स्त्री पुरुष का वर्गीकरण करता है, अत: कालान्तर मे लिंग शब्द ही उपस्थेन्द्रिय का पर्यायवाची बन गया। किन्तु प्रश्न तो यह है कि यहाँ पुराणो की सुस्पष्ट कथाओ और और अनेक साक्षियो के होते हुये क्या 'लिंग' शब्द का अर्थ उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता है? पुराणो से कुछ ऐसी ही साक्षिया हम यहा सक्षेप में प्रस्तुत करते हैं—

शिवपुराण कोटि रुद्र सहिता ४, अ० १२ मे दारु वन की एक कथा आती है—

> दारु नाम वनं श्रेष्ठं तत्रासन्नृपिसत्तमाः।
> शिवभक्ताः सदा नित्यं शिवध्यानपरायणाः ॥६
> ते कदाचिद्वने याता समिधाहरणाय च।
> सर्वे द्विजर्षभा शैवाः शिवध्यानपरायणाः ॥८
> एतस्मिन्नन्तरे साक्षाच्छंकरो नीललोहितः।
> विरूपं च समास्थाय परीक्षार्थं समागतः ॥६
> दिगम्बरोऽति तेजस्वी भूतिभूषणभूषित.।

स चेष्टा सकदक्षा च हस्ते लिङ्गं विधारयन् ।।१०
मनसा च प्रिय तेषा कर्तुं वै वनवासिनाम् ।
जगाम तद्वन प्रीत्या भक्तप्रीतो हर स्वयम् ।।११
त दृष्ट्वा ऋषिपत्न्यस्ता पर आसमुपागता ।
विह्वला विस्मिताश्चान्या. समाजग्मुस्तथा पुन ।।१२
अलिलिगुस्तथा चान्या. कर धृत्वा तथा परा: ।
परस्पर तु सघर्षात्समग्नास्ता: स्त्रियस्तदा ।।१३
एतस्मिन्नेव समये ऋषिवर्या: समागमन् ।
विरुद्धं त च ते दृष्ट्वा दु खिता' क्रोधमूर्च्छिता. ।।१४
तदा दु:खमनुप्राप्ता कोऽय कोऽय तथा ब्रुवन् ।
समस्ता ऋषयस्ते वै शिवमायाविमोहिता. ।।१५
यदा च नोक्तवान् किंचित्सोऽवधूतो दिगम्बर. ।
ऊचुस्त पुरुष भीम तदा ते परमर्षय ।।१६
त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत् ।
ततस्त्वदीयं तल्लिग पतता पृथिवीतले ।।१७
इत्युक्ते तु तदा तैश्च लिग च पतितं क्षणात् ।
अवधूतस्य तस्याशु शिवस्याद्भुतरूपिण ।।१८
तल्लिग चाग्निवत्सर्वं यद्ददाह पुर स्थितम् ।
यत्र यत्र च तद्याति तत्र तत्र दहेत्पुन: ।।१९
पाताले च गत तच्च स्वर्गे चापि तथैव च ।
भूमौ सर्वत्र तद्यातं न कुत्रापि स्थिर हि नत् ।।२०
लोकाश्च व्याकुला जाता ऋषयस्तेऽति दु खिता ।।२१
दु खिता: मिलता शीघ्रं ब्रह्माण शरणं ययु: ।।२२
मुनीशास्तांस्तदा ब्रह्मा स्वय प्रोवाच वै तदा ।।३१
आराध्य गिरिजा देवी प्रार्थयन्तु सुरा शिवम् ।
योनिरूपा भवेच्चेद्वै तदा तत्स्थिरया व्रजेत् ।।३२

पूजित: परया भक्त्या प्रार्थित. शकंरस्तथा ।
सुप्रसन्नस्ततो भूत्वा तानुवाच महेश्वर. ॥४४
हे देवा ऋषय सर्वे मद्वच. श्रृणुतादरात् ।
योनि रूपेण मल्लिङ्गं धृत चेत्स्यात्तदा सुखम् ॥४५
पार्वती च विना नान्या लिङ्गं धारयितु क्षमा ।
तया धृत च मल्लिगं द्रुत शान्ति गमिष्यति ॥४६
प्रसन्ना गिरिजा कृत्वा वृषभध्वजमेव च ।
पूर्वोक्त च विधि कृत्वा स्थापित लिङ्गमुत्तमम् ॥४८

दारु नाम का एक वन था, वहाँ पर सत्पुरुष लोग रहते थे, जो शिव के भक्त थे तथा नित्य प्रति शिव का ध्यान किया करते थे। ६। वे कभी लकडियाँ चुनने के लिये सव के सब श्रेष्ठ ब्राह्मण, जो शिव के भक्त तथा शिव का ध्यान करने वाले थे वन मे गये । ८। इतने मे साक्षात् महादेव जी विकट रूप धारण कर उनकी परीक्षा के निमित्त आ पहुचे । ९। नङ्गे, अति तेजस्वी, विभूति भूषण से शोभायमान, कामियो के समान दुष्ट चेष्टा करते हुए, हाथ मे लिग धारण करके । १०। मन से उन वनवासियो का भला करने के लिये भक्ता पर प्रसन्न होकर शिवजी स्वय प्रीति से उस वन मे गये । ११। उसको देखकर ऋषि पत्नियाँ अत्यन्त भयभीत होगई, व्याकुल तथा आश्चर्यान्वित हुईं, कई लौट आईं । १२। कई आलिगन करने लगी, कई ने हाथ मे धारण कर लिया तथा परस्पर के सङ्घर्ष से वे स्त्रिया मग्न होगई । १३। इतने मे ऋषि आगये और इस प्रकार के विरुद्ध काम को देख कर वे दु.खी हुए। क्रोध से मूर्छित होगये । १४। तव दुःख को प्राप्त हुए कहने लगे—यह कौन है ? वे सबके सब ऋषि शिव की माया से मोहित हो गये । १५। जब उस नगे अवधूत ने कुछ भी उत्तर न दिया, तव वे परम ऋषि उस भयङ्कर पुरुष को यो कहने लगे । १६। तुम जो यह

दक्षिण-भारत श्रीरगम के कृष्ण मदिर की ति

दक्षिण-

वेदमार्ग को लोप करने वाला विरुद्ध काम करते हो इसलिये तुम्हारा यह लिग पृथ्वी पर गिर पडे । १७ । उनके इस प्रकार कहने पर उस अद्भुत रूपधारी अवधूत शिव का लिग उसी समय गिर पडा ।१८। उस लिंग ने सब कुछ जो आगे आया अग्नि की भाति जला दिया । जहा जहा वह जाता था वहा-वहा सब कुछ जला देता था । १६ । वह पाताल मे भी गया, वह स्वर्ग भी गया, वह भूमि मे सब जगह गया किन्तु वह कही भी स्थिर नही हुआ । २० । सारे लोक-लोकान्तर व्याकुल होगये तथा वे ऋषि अति दुखित हुए । २१ । वे दुखी हुए सब मिल कर ब्रह्मा के पास गये । २२ । तब ब्रह्मा उन ऋषियो को स्वय कहने लगे । ३१ । हे देवताओ ! पार्वती की आराधना करके शिव को प्रार्थना करो, यदि पार्वती योनि रूप हो जावे तो वह लिंग स्थिरता को प्राप्त हो जावेगा । ३२ । तब उन ऋषियो ने परम भक्ति से शकर को प्रार्थना को । तब अति प्रसन्न होकर शिव उनसे बोले ।४४। हे देवता और ऋषि लोगो ! आप सब मेरी बात को आदर से सुने । यदि मेरा लिग योनि रूप से धारण किया जावे तब शान्त हो सकता है । ४५ । मेरे लिग को पार्वती के विना और कोई धारण नही कर सकता । उससे धारण किया हुआ पूरा लिंग शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त हो जावेगा । ४६ । पार्वती तथा शिव को प्रसन्न करके पूर्वोक्त विधि के अनुसार वह उत्तम लिंग स्थापित किया गया । ४८ ।

कथा अत्यन्त अश्लील है किन्तु प्रकरणवश देनी ही पडी । इस कथा मे जिस शिवलिग तथा योनि का वर्णन है, शिवालयों मे स्थापित लिंग और जलहरी उसी की आकृति है । इसी लिंग को शान्त रखने के लिये शिवलिंग पर जलपूर्ण घट रक्खा

जाता है। इन समस्त बातों का शिवपुराण में सविस्तार वर्णन है। इसी प्रकार पद्मपुराण षष्ठ उत्तर खंड अ० २५५ में लिखा है- भृगु ऋषि को आता देखकर कर शिव जी पार्वती के संग मस्त रहे अतः भृगु ने इन्हें शाप दिया:—

नारीसंगममत्तोऽसौ यस्मात्मामवमन्यते ।
योनिलिङ्गस्वरूपं वै तस्मात्तस्य भविष्यति ॥

तुमने स्त्री के संग मस्त रहकर मेरा अपमान किया है, इस लिये तुम्हारा स्वरूप योनीलिङ्ग हो जाय।

भविष्यपुराण प्रति० ख० ४ अ० १७ में इस सम्बन्ध में एक दूसरी कथा आती है:—

कदाचिद्भगवानत्रिर्गंगाकूले ऽनुसूयया ॥६९
तस्य भावं समालोक्य त्रयो देवाः सनातनाः ।
अनुसूयां तस्य पत्नीं समागम्य वचोऽब्रुवन् ॥७०
लिङ्गहस्तः स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्द्धनः ।
ब्रह्मा कामवशाल्लोपः स्थितस्तस्यावशं गतः ॥७१
मोहितास्तस्य ते देवा गृहीत्वा तां बलात्तदा ।
मैथुनाय समुद्योगं चक्रुर्मायाविमोहिताः ॥७२
तदा क्रुद्धा सती सा वै तान् शशाप मुनिप्रिया ।
महादेवस्य वै लिङ्गं ब्रह्मणोऽस्य महाशिरः ॥७४
चरणौ वासुदेवस्य पूजनीया नरैः सदा ।
भविष्यन्ति सुरश्रेष्ठा उपहासोऽयमुत्तमः ॥७५

कभी भगवान् अत्रि अपनी पत्नी अनसूया सहित गंगा के किनारे रहते थे। ६९। उनके भाव को देखकर तीनों सनातन देव उनकी पत्नी अनसूया को यह बात कहने लगे। ७०। हाथ में लिङ्ग लिए हुए महादेव ....ब्रह्मा जी कामवश वेद का लोप करते हुए इस अनसूया के वश में होकर स्थित

होगये । १७ । मोहित होकर वहाँ वे देवता अनसूया को बलात् पकड कर मैथुन करने के लिये यत्न करने लगे। उस मुनि-पत्नी ने क्रोध मे आकर उन्हें शाप दिया । ७६ । कि महादेव जी का लिङ्ग, ब्रह्मा का सिर और विष्णु के चरण ससार मे पूजे जायेंगे देवताओ ! तुम्हारा उपहास होगा । ७५ ।

इस प्रमाण मे शिर और पैर के साथ लिंग भी शरीर का एक अङ्ग है और उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नही सकता ।

देवी भागवत का एक अन्य प्रमाण भी इसकी पुष्टि करता है.—

शम्भो पपात भुवि लिङ्गमिदं प्रसिद्धम् ।
शापेन तेन च भृगोर्विपिने गतस्य ।
त ये नरा भुवि भजति कपालिन तु ।
तेपा सुख कथमिहापि परश्च मातः ॥१९

देवी भा० स्कं ५ अ० ९

हे माता ! महादेव के अरण्य मध्यस्थ ऋषियों के आश्रम में गमन करने पर भृगु के शाप से उनका लिङ्ग पृथिवी मे गिरा, यह तो प्रसिद्ध ही है। जो कपाल को धारण करता है, ऐसे शिव को जो लोग भजते हैं, उनको किस प्रकार सुख होगा ?

उपरोक्त सभी उद्धरण यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि देश मे जिस शिव लिङ्ग की पूजा होती है, वह शिव तथा पार्वती की उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। दक्षिण भारत, विहार, बगाल तथा आसाम के कुछ मन्दिरो मे प्रतिष्ठित शिवलिङ्ग तथा शिव पार्वती की मूर्तियां जिनके चित्र गोरखपुर से निकलने वाले 'कल्याण' के 'शिवाङ्क' मे भी प्रकाशित हुए हैं; और जिनको हमने भी इस पुस्तक मे दिया है, हमारे प्रतिपादित

विषय की पुष्टि मे अकाट्य प्रमाण है। यह मूर्तियां इस विवाद को सदा के लिये समाप्त कर देती है कि यह शिवलिङ्ग, शिव-पार्वती उपस्थेन्द्रिय के सिवाय और कुछ नही है और यह घृणित तथा अश्लील प्रकार की मूर्तिपूजा विधि वाममार्ग के भैरवी चक्र का अवशिष्ट मात्र है। जहां एक पुरुष को शिव अथवा भैरवी तथा एक स्त्री को देवी वा भैरवी बताकर उनकी उपस्थेन्द्रिय की पूजा की जाती है। आज देश मे तंत्र ग्रन्थो का वाममार्ग लोप होगया है, किन्तु एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक शिवलिंग पूजा द्वारा हिन्दू समाज आज भी उसे न केवल जीवित रख रहा है, अपितु अनेक प्रकार से उसका औचित्य सिद्ध करने का दुष्प्रयास भी करता रहता है। जिस सोमनाथ के मन्दिर को दश बार नष्ट किया गया, उसका आज भारत सरकार द्वारा जीर्णोद्धार करके उसमें पुनः शिवलिंग स्थापित कर दिया गया है। इस पर देश के बड़े-बड़े नेताओ द्वारा २५ लाख रुपये की अपार धनराशि संग्रह करके व्यय की जा चुकी है और उसके निर्माण मे दो करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है। दुःख है कि हमारे नेताओ का ध्यान नालन्दा आदि प्राचीन विश्वविद्यालयो के पुनरुद्धार की ओर न जाकर संसार मे उपहास का कारण बनने वाली इस शिवलिंग-स्थापना की ओर गया, जिसके लिये देश का लाखो रुपया पानी की भांति बहाया जा रहा है। इसे इस अभागी आर्य जाति का दुर्भाग्य ही कह सकते हैं। क्या किसी जाति के नैतिक पतन की इससे अधिक [illegible] अवस्था हो सकती है ?

पौराणिक काल पर हमारा यह अध्याय बहुत विस्तृत हो गया है। शिवलिंग का जन्म तथा उत्थान इसी काल मे हुआ। इस [illegible] स्वाभाविक ही था। इसमें जो प्रमाण पुराणों से दिये है, वह न केवल [illegible] पौराणिक देवों का चरित्र

चित्रण ही करते हैं अपितु आर्यजाति की उस समय की साम्प्रदायिक दुरवस्था तथा सामाजिक पतन पर भी विशेष प्रकाश डालते हैं। उनसे हमारे इस विचार की पूर्णत पुष्टि होती है कि मूर्तिपूजा विभिन्न सम्प्रदायो की भक्ति-भावना के स्थान पर केवल उनकी व्यवसायिक बुद्धि की ही विशेष परिचायक है। उनके मदिर और मूर्तिया, तीर्थस्थान और उनके द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले लाखो पडे, पुजारी, साधु-महन्त इस समस्त व्यावसायिक मशीन के कल पुर्जे है।

जिस आर्य जाति ने वेद, शास्त्र, स्मृति जैसे उच्चकोटि के धार्मिक साहित्य को जन्म दिया हो, जहाँ से समस्त ससार ने धर्म एव नीति का प्रथम पाठ पढा हो, उस जाति का पुराणो के मिथ्या आचार विचारो मे फसकर एकेश्वरवाद तथा अष्टाग योग की उच्च शिक्षा के होते हुए अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा को अपनाना वास्तव मे एक आश्चर्य की बात है। वर्तमान हिन्दू समाज का ईश्वर, उसकी पूजा विधि, तीर्थस्थान, पर्व, जातिभेद, सस्कार, रीति-नीति सब ही पर इस पौराणिक युग की गहरी छाप है। सत्य तो यह है कि इसके अधःपतन का समस्त इतिहास इसी पौराणिक शिक्षा का दुष्परिणाम है।

इस शिक्षा के परिणाम स्वरूप इसने क्या-क्या यातनाये सही, कैसे कष्ट उठाये, कितने अपमानो को सहन किया, इसका दु खद इतिहास पाठक आगामी अध्यायो मे पढे गे। यह सब होते हुए भी, यह अभागी जाति आज भी उसी शिक्षा से चिपटी हुई है, अज्ञान और स्वार्थ उसके परित्याग मे आज भी बाधक है।

मूर्तिपूजा और मुस्लिमकाल (१)

सातवी शताब्दि के मध्य में अरब और उसके निकटवर्ती प्रदेश इस्लाम के प्रभाव मे आ चुके थे। भारतवर्ष का अरब, ईरान, तुर्किस्तान तथा मिश्र आदि देशो से अति प्राचीन काल से न केवल व्यापारिक किन्तु धार्मिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। अत. अरब आदि देशो के निवासियों का यहाँ सदा यातायात बना रहा। यहाँ के निवासी भी इन देशो मे जाते रहे और अपने धार्मिक तथा सास्कृतिक विचारों से उन्हे प्रभावित करते रहे। फलस्वरूप जिस समय यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार था, यह देश भी बौद्ध धर्म मे दीक्षित हो गये। अरबी भाषा का 'बुद' तथा फारसी का 'बुत' शब्द जिसके अर्थ मूर्ति के हैं, 'बुद्ध' का ही रूपान्तर है। अरबी ग्रन्थों मे बौद्धों के लिये 'समीना' 'समीनीन' 'शामनान' आदि अनेको शब्दो का प्रयोग हुआ हैं तथा 'बोधिसत्व' को 'बोजासफ' लिखा है।

इस्लाम के प्रचार के पश्चात् भी बौद्ध धर्म के चिन्ह अरब प्रदेशो मे विद्यमान रहे, इसकी अनेक साक्षियां मिलती हैं। आठवीं शती के प्रारम्भिक काल तक बल्ख में इनका एक अत्यन्त प्रसिद्ध 'विहार' जिसे अरब ऐतिहासिको ने 'नौ बहार' लिखा है 'नव-विहार' का ही अपभ्रंश है विद्यमान था, जिसके वैभव की इन्होंने बड़ी विशद व्याख्या की है। इसी के 'प्रमुख' भिक्षु, जिसे इन्होंने 'बरमक' लिखा है, के वंशज आगे

चलकर मुसलमान होगये और अरब के खलीफा हारू रशीद आदि के प्रधान मन्त्री बनते रहे ।

भारतवर्ष मे बौद्ध-धर्म के ह्रास और पौराणिक-धर्म के उत्थान का इन देशो पर भी प्रभाव पडा और अरब मे भी शैव तथा शाक्त धर्म फैल गया । सातवी शती मे चीन यात्री ह्वैनसाग ने अपनी यात्रा मे भारतवर्ष में शिव की पूजा बडी शीघ्रता से बढती हुई देखी और अयोध्या के निकट दुर्गा की मूर्ति के सन्मुख नरबलि की जाती देखी । उसका कहना है कि बुद्ध की मूर्तियों के स्थान पर शिव मूर्तिया स्थापित हो रही थी और बौद्धो को अनेक प्रकार की यत्रणाये देकर निकाला जा रहा था । नर मुण्डो की माला पहिने कापालिको का भी उसने उल्लेख किया है । उसने ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया तक में बौद्धो और शैवो को बराबर पाया था । साराश यह है कि जैसे जैसे हमारे देश मे धार्मिक परिवर्तन होते गये, उसके प्रभाव से अरब आदि देश भी अछूते न रहे । अरब मे जिस स्थान पर आज मुसलमानो का काबा है, वह एक शिव मन्दिर का ही अवशेष है और वहाँ 'सगेअसवद' जिसे मुसलमान यात्री आज भी सम्मानपूर्वक चूमते हैं, उस मन्दिर की शिवलिङ्ग मूर्ति ही है, जिसे मुहम्मद साहब ने भी किन्ही कारणो से सुरक्षित रखना ही उचित समझा ।

इन देशो के मुसलमान हो जाने पर भारतवर्ष भी उनके प्रभाव से न बच सका । एक ओर तो यह देश, 'एक ईश्वर', एक धर्म और एक धार्मिक पुस्तक–अल्लाह, इस्लाम और कुरान के नाम पर संगठित हो रहे थे, दूसरी ओर हमारा देश बहुदेवतावाद, मूर्तिपूजा, विभिन्न सम्प्रदाय और अनेकानेक छोटे छोटे राज्यों में विभाजित होकर अपने प्राचीन वैभव को धूल

में मिला रहा था। फिर भला उसमें ऐसी शक्ति कहाँ थी कि वह इन देशो मे बढ़ती हुई इस्लाम की आँधी से टक्कर लेता ? जिस समय मुसलमानो का पहिला आक्रमण इस देश पर हुआ, अरब के खलीफा की ओर से एक व्यक्ति 'हज्जाज'—ईराक, ईरान, मकरान तथा बिलोचिस्तान का प्रबन्धक था। इस आक्रमण के दो कारण बताये जाते हैं। प्रथम यह कि अरब के एक जहाज को कच्छ के लुटेरो ने लूट लिया था। हज्जाज ने जब सिंध के राजा दाहिर से इसका हरजाना माँगा, तो उसने यह उत्तर दिया कि यह स्थान उसकी सीमा से बाहर है, अतः यह माँग अनुचित है। दूसरा यह कि हज्जाज के आधीन देशों के कुछ विद्रोही दाहिर की शरण मे रहने लगे थे। हज्जाज ने इन्हें माँगा परन्तु दाहिर इन्हे देने को उद्यत न हुआ।

लगी। राजा दाहिर घायल होकर गिर गया। उसका शिर काटकर एक भाले पर लगा दिखाया गया, जिसे देख कर समस्त सेना भाग खडी हुई। मन्दिर विध्वस कर दिया गया। इसी ब्राह्मण ने कुछ दक्षिणा प्राप्त करने के लालच मे एक गुप्त खजाने का भी पता दिया, जिसमे ४० देगे सोने की थी, जिनमे १७२०० मन सोना भरा था। इसके अतिरिक्त ६००० ठोस मूर्तियाँ सोने की थी, जिनमे सबसे बडी मूर्ति का तौल ३०मन था। हीरा, पन्ना, मोती, लाल और माणिक्य इतने थे, जिन्हे कई ऊँटो पर लादा गया। जिस ब्राह्मण और जिन सेनापतियो ने राजा दाहिर से विद्रोह किया था, उन्हे कासिम ने कत्ल करा दिया। तत्पश्चात् उसने असख्य मन्दिरो और मूर्तियो का विध्वस किया, नगरो और ग्रामो को लूटा, हजारो स्त्री पुरुषो को कत्ल कराया। प्रत्येक ग्रामो के द्वार पर जाकर वह वहाँ के निवासियो को मुसलमान बनने और धन देने का आदेश देता, देर होने पर कत्ल और लूट करा देता था।

सिंध का सबसे पहिला इस्लामी इतिहास जो 'चचनामा' के नाम से प्रसिद्ध है कासिम के आक्रमण की इस घटना का एक दूसरे प्रकार से वर्णन करता है। इसके मतानुसार उस समय सिंध मे पौराणिक-सम्प्रदायवादियो और बौद्धो के बीच गहरा सघर्ष था। दाहिर का पिता राजा चच, जिसके नाम पर यह इतिहास लिखा गया है, पौराणिक था और उसने बहुत से बौद्ध राजाओ को या तो नष्ट कर दिया था या अपने आधीन कर लिया था। इसके पश्चात इसका छोटा भाई राजा बना, किंतु यह बौद्ध था, अत जिन्होने चच के समय मे बौद्धधर्म को तिलाञ्जलि दे दी थी, उन्हे पुनः बौद्ध होने के लिए इसने विवश किया। पौराणिक सम्प्रदायो ने उसे गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर दाहिर को राजा बनाया। इसी इतिहासकार का

कहना है कि कासिम का स्थान-स्थान पर बौद्धों ने स्वागत किया और उसे प्रत्येक प्रकार की सुविधा पहुँचाई। सिंध के एक व्यक्ति 'काका' के सम्बन्ध में, जिसे इसने एक सुप्रसिद्ध बुद्धिमान् और नीतिज्ञ बताया है, लिखा है कि जब कुछ प्रतिष्ठित जाट सामन्त इसके पास गए और पूछा कि यदि उसका परामर्श हो तो कासिम की सेना पर रात को छापा मारा जाय? उसने उत्तर दिया कि यदि तुम ऐसा करते हो तो करो, किंतु सुनो! हमारे पण्डितों और योगियों ने ज्योतिष द्वारा यह भविष्यवाणी की है कि हमारे देश को एक दिन मुसलमान विजय कर लेगें। लोग इन की बात नहीं मानते और हानि उठाते हैं। तुम जानते हो कि मैं सदा अपने निश्चय पर अटल रहने वाला हूँ। बौद्धों की पुस्तकों में भी यही भविष्यवाणी की गई है और मेरा भी यही निश्चय है कि वास्तव में ऐसा ही होने वाला है। तत्पश्चात् यह 'काका' मुहम्मद बिन कासिम के पास चला गया और जाट सामंतों के विचार से उसे सचेत कर दिया। उसने अपनी धार्मिक पुस्तकों की भविष्यवाणी का भी उससे वर्णन किया। कासिम ने उसका स्वागत किया और उसे अनेक बहुमूल्य पारितोषक भेंट किए। इसी प्रकार राजा दाहिर के बहुत से विरोधी सेनानायकों ने भी जाकर उसकी आधीनता स्वीकार कर ली। सम्भवतः यह काका वही देशद्रोही ब्राह्मण अथवा पुजारी था, जिसका अन्य इतिहासकारों ने कासिम से जा मिलने का उल्लेख किया है। यह है मुसलमानों द्वारा भारत को पराधीन करने वाले प्रथम युद्ध का संक्षिप्त विवरण, जिसके फलस्वरूप लगभग चौदह सौ वर्ष अधीन रहने पर हमारे बंधन अब नहीं ढीले हुए हैं और [illegible] भी मुसलमानों द्वारा इस देश को खण्ड-खण्ड करने के [illegible] परिणाम हैं [illegible]

उपर्युक्त उद्धरणो से सिद्ध है कि इस युद्ध मे हमारी पराजय के कारण स्पष्ट रूप से दो हैं और वह राजनैतिक न होकर नितान्त धार्मिक और मानसिक है। पहिला हिन्दुओ का यह विश्वास कि मदिर की मूर्ति एक चैतन्य दैवी शक्ति है और हमारी जय और पराजय उसकी इच्छा पर निर्भर है। यदि वह अप्रसन्न है तो हमारा सब प्रयत्न निष्फल है। झडे का गिर जाना उसकी अप्रसन्नता का सूचक है। दूसरा अपने साहस और पौरुष पर विश्वास न रखकर ज्योतिषियो के हाथ अपने भाग्य को सौप देना। जिन भविष्यवाणियो का 'काका' ने, जो स्वय भी ज्योतिषी प्रतीत होता है, उल्लेख किया है वह क्या है ? और कहाँ की हैं ? इसका तो कुछ पता नही, किंतु यह निर्विवाद है कि इसमे भी विदेशी आक्रमणकारियो का अवश्य ही हाथ है, जो उस समय के हिन्दुओ के अन्धविश्वासो से लाभ उठाने का पूरा प्रयत्न करते थे। 'काका' जैसे देशद्रोहियो का, जहाँ इतनी साम्प्रदायिक विभिन्नता हो, मिल जाना तो कोई कठिन बात है ही नही। इस प्रकार का अंधविश्वास, आत्म-सशय तथा भीरुता मूर्तिपूजा का स्वाभाविक फल है। जो जाति जडमूर्ति के भय से थर-थर काँपे, वह एक ईश्वर-विश्वासी निर्भीक जाति के सन्मुख कब तक ठहर सकती थी। हिंदू उस समय के विदेशी आक्रमणकारियो से शारीरिक बल मे कम हो, यह बात भी नही थी। एक प्रसिद्ध इतिहासकार बदाऊनी ने लिखा है :—

"हिंदुओ के बराबर प्रतापशाली पठान और मुगलो में एक भी जाति विद्यमान नही है।" परन्तु फिर भी अनेक धार्मिक और मानसिक रोगो ने जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया है, इस जाति को जर्जरित कर रक्खा था। क्या आज भी हम उनसे मुक्त हो सके है ? एक अग्रेज लेखक का यह कथन कि

'मुहम्मद बिन कासिम के समय से आज तक हिंदू जाति ने न कुछ सीखा है और न कुछ भुलाया है' सर्वांश में सत्य है।

एक स्थान पर प्रसिद्ध अरबयात्री अलबरूनी ने लिखा है—"मुहम्मद बिनकासिम ने जब मुलतान को विजय किया तो उसकी भारी जनसंख्या और समृद्धिशाली होने का कारण वहाँ के प्रसिद्ध देव मन्दिर को पाया। अत: उसने उसे वैसा ही छोड़ दिया। किंतु मूर्ति के गले मे एक गाय की हड्डी बाँध दी जिससे यह प्रत्यक्ष हो जाय कि वह इस मूर्ति को किसी श्रद्धा अथवा विश्वास के कारण अछूता नही छोड रहा है।" एक दूसरा मुसलमान इतिहासकार उसी मन्दिर के सम्बन्ध मे लिखता है कि—"इस प्रकार मुलतान का यह महान् देव-मन्दिर नगर के विजय होने पर भी सुरक्षित रहा। अरबो के तीनसौ वर्ष के राज्य काल मे भी वह जैसा का तैसा बना रहा। अरब वासियों ने इस मन्दिर से आर्थिक और राजनैतिक दोनो लाभ उठाये। राजनैतिक यह कि जब कोई हिंदू राजा मुलतान पर आक्रमण करने की तैयारी करता तो अरब शासक उसे यह धमकी देकर भयभीत कर देता कि यदि उसने यहाँ आक्रमण किया तो उस मन्दिर को भस्मीभूत कर दिया जायगा। यह सुन कर अन्ध विश्वासी, धर्मभीरु राजा रुक जाता। आर्थिक लाभ यह कि समस्त भारत से लोग यहाँ की यात्रा को आते और चढ़ावा चढ़ाते थे, जो अरब शासक के राजकोष मे ले लिया जाता था।" अरब यात्रियो का कहना है कि इस मन्दिर मे प्रचुर चाँदी सोना था। दो दो सौ अशर्फियों का सौ मैंवल धन तो यहाँ खजाने को आता था। देवमूर्ति जो मूर्ति देवता की थी, काष्ठ की बनी हुई थी, जिसके दोनों नेत्र बहुमूल्य रत्नों के थे और सिर पर सोने का मुकुट था।"

इस प्रकार मुसलमानो ने हमारे अंधविश्वास और मूर्खता का पूरा पूरा लाभ उठाया। हमारी देवमूर्तिया एक ओर अपने हिंदू भक्तो से अपार धन हरण करने और दूसरी ओर उसे अपने विध्वसको के चरणो मे अर्पित करने का साधन बनी हुई थी। उनके भक्त पुजारी अपनी स्वार्थसिद्धि मे रत थे। वह अपने व्यवसाय को चलता हुआ देखना चाहते थे। जाति का धन कहाँ जाता है, इसकी उन्हे चिंता न थी। वह उसमे अपना भाग सुरक्षित रखना चाहते थे और वह मुसलमान शासको से उन्हें मिल ही जाता था। अनेक मुसलमान यात्रियो का कहना है कि मुल्तान के निकटवर्ती हिन्दू राजा बड़ी सरलता से इस अरब शासन का अन्त करके धूल मे मिला सकते थे, परन्तु मूर्ति-ध्वस के भय ने उन्हे साहसहीन बना रखा था। मूर्तिपूजा हमारी पराधीनता मे कहा तक सहायक हुई, यह ससार के इतिहास में कोई नवीन बात नही है। अनेक देशो को इस अन्ध विश्वास के लिये घोर प्रायश्चित करने पडे हैं। यह अभागी आर्यजाति इतनी कठोर यातनाए सहने पर भी, आजतक इस परम्परागत अन्धविश्वास से मुक्त नही हुई। सिंध का वह देवी का मन्दिर जो भारत की पराधीनता का सर्वप्रथम प्रतीक है, खडहर रूप मे आज भी उपस्थित है। प्रति वर्ष यहाँ एक बड़ा मेला लगता है, जहां हजारो हिंदू अब भी उस देवी की पूजा करते हैं, परन्तु राजा दाहिर का नाम जिसने स्वदेश रक्षार्थ अपने प्राणार्पण कर दिये, आज केवल अतीत की वस्तु बन चुका हैं।

जिस समय का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं, वह इस देश के घोर अधःपतन का समय था। पौराणिक सम्प्रदायवाद अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था, और हिंदू मन्दिर अपार धन-राशि के केन्द्र बने हुए थे। एक अरब लेखक इब्न नदीम ने एक

अन्य लेखक के आधार पर गुजरात के एक मन्दिर के अपार वैभव का उल्लेख करते हुए लिखा है—"गुजरात के राजा वल्लभराय की राजधानी महानगर के देव मंदिर मे सोने, चांदी, लोहे, पीतल, हाथीदात और हर प्रकार के बहुमूल्य पाषाण और मणियो की बीस हजार मूर्तियां हैं। उसकी एक मूर्ति बारह हाथ ऊँची स्वर्ण की है जो स्वर्ण के ही सिंहासन पर विराजमान है। यह सिंहासन एक गोलाकार ऊँचे स्वर्ण के भवन मे स्थित है। यह भवन स्वच्छ मोतियो, लाल, हरे, पीले और नीले रंग के जवाहरात से सुसज्जित है। वर्ष मे एक बार इसका मेला होता है। राजा स्वयं वहा पैदल आता जाता है। इस मूर्ति के सम्मुख वर्ष में एक दिन बलि दी जाती है और मनुष्य तक उस पर अपनी बलि चढाते है।" अतः विदेशी मुसलमानों द्वारा इन मन्दिरो पर आक्रमण का कारण न केवल मूर्ति-ध्वंस द्वारा स्वर्ण प्राप्ति की लालसा ही थी, अपितु इन मन्दिरो का अपार वैभव भी उन्हे यहां खींच लाने का एक मुख्य कारण था। जिस छल कपट से पौराणिक साम्प्रदायिको ने इसको संग्रह किया था, उसी भांति वह उनसे अपहरण कर लिया गया। ईश्वर से विमुख होने के फलस्वरूप जो शताब्दियो तक मार खाई और अपमान सहन किये, वे पृथक् रहे।

जवाहरात लूटे। थानेश्वर के आक्रमण मे २ लाख हिन्दुओं को वन्दी बनाकर गजनी लेगया। 'फरिश्ता' लिखता है कि उस समय गजनी हिन्दुओ की सी नगरी प्रतीत होती थी। मदुरा लूट मे उसे ६ ठोस सोने की मूर्तिया मिली जिनके शरीर पर ११ बहुमूल्य रत्न थे। वहा से वह इतने हिन्दू गुलाम बनाकर लेगया थो कि गजनी मे उसने एक एक गुलाम को २।।) रुपये को वेचना चाहा परन्तु मोल लेने वाले न मिले। मदुरा को देखकर महमूद ने स्वय कहा था कि हजारो महल विश्वासी के विश्वास की भाँति दृढ भाव से खड़े हैं, जो सगमरमर के बने है। यहाँ असख्य हिन्दू मन्दिर है। अनन्त धन खर्च किये बिना नगरी इतनी सुन्दर नही बन सकती। दो सौ वर्ष के यत्न और परिश्रम बिना ऐसा नगर निर्माण असम्भव है।

इसके पश्चात् इसने गुजरात के सुप्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। इस विशाल मन्दिर मे अगणित बहुमूल्य रत्न लगे हुए थे। ४० मन भारी सोने की जजीर में मे एक भारी घण्टा लटक रहा था। उसमे ५ गज ऊची शिव-मूर्ति अधर लटक रही थी, जिसे उसने अपने हाथों से तोडकर असख्य रत्नों का ढेर लूट लिया। उस मूर्ति को गजनी ले गया। उसके टुकडे टुकडे करके एक टुकडा मस्जिद की सीढियो मे और एक अपने महल की सीढियो मे लगा दिया। उसने उस मन्दिर के स्थान पर एक मस्जिद निर्माण करादी, जो अब तक खडी है।

इससे पूर्व कदाचित ही इस देश ने कभी इतने दुर्दिन देखे हो। सोमनाथ की जिस शिव मूर्ति को महमूद ने अपने हाथो एक गदा से विध्वस किया था वह बिना किसी दृष्ट आधार के

मन्दिर में अधर स्थित थी। शैव लोगों में मूर्ति के इस चमत्कार को बड़े कौतूहल की दृष्टि से देखा जाता था और भोली हिन्दू जाति के अन्धविश्वास और तत्कालीन आर्थिक वैभव से मन्दिर के पुजारी और उनके संरक्षक क्षत्रिय राजा पूर्ण लाभ उठाते थे। यह मूर्ति लोहे की बनी हुई थी। मन्दिर मे ऊपर नीचे दोनो ओर चुम्बक पत्थर लगा हुआ था जिसके आकर्षण से यह मूर्ति अधर स्थित थी। महमूद गजनवी ने जब इसे तोड़ना चाहा तो पुजारियों ने उसे न तोड़ने की बड़ी अनुनय विनय की और बदले मे बहुत धन देने को भी कहा, किन्तु उसने उत्तर दिया कि मैं 'मूर्ति-भंजक' हूँ 'मूर्ति-विक्रेता' नही।

पुजारियों की इस प्रार्थना के दो कारण प्रतीत होते हैं। पहिला यह कि उस 'शिवलिङ्ग' के भीतर बहुमूल्य रत्न भरे हुए थे। दूसरा यह कि इससे उनका समस्त चमत्कार जिसके आधार पर उनका यह व्यवसाय चल रहा था, धूल मे मिल जाता था।

उसे इस देश की पराधीनता का मुख्य तथा प्रवल कारण घोषित कर रही है। तत्कालीन भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था कितनी दयनीय थी, इसका वर्णन अरब का प्रसिद्ध यात्री अलवरूनी जो महमूद के आक्रमण के समय भारत में ही उपस्थित था, निम्न शब्दो मे करता है :—

"भारत वहुत छोटे-छोटे राज्यो में विभक्त है। सव राज्य स्वतत्र है और परस्पर युद्ध मे प्रवृत्त रहते है। ब्राह्मण अपने अधिकारो की रक्षा के लिये इतने व्याकुल है और जातिभेद का ऐसा द्वेषभाव फैल रहा है कि वैश्यो और शूद्रो को वेद-पाठ करते देखकर, ब्राह्मण उन पर तलवार लेकर टूट पडते हैं। और उन्हे राजकचहरी मे उपस्थित करते है, जहां उनकी जिह्वा काट ली जाती है। ब्राह्मण सव प्रकार के राज्य-कर से मुक्त है। हिंदू वालाए सती हो जाती हैं। हिंदू किसी देश को नही जाते, किसी जाति को श्रद्धा की दृष्टि से नही देखते। वे अपने को और अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ समझते है।"

परन्तु अन्त मे इन ब्राह्मण और क्षत्रियो को भी अपने इन पापो का फल भोगना पड़ा। वे भी गजनी के बाजारों मे दो-दो रुपये को विके।

महमूद गजनवी के लगभग १५० वर्ष पश्चात् १२ वी शती मे मुहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने वढकर उसे परास्त किया और उसे वदी कर लिया परन्तु कुछ दंड लेकर छोड दिया। छ. बार उसने आक्रमण किये और हार कर वदी हुआ और धन लेकर छोड दिया गया। पृथ्वीराज और जयचन्द्र के पारस्परिक युद्ध ने मुहम्मद गौरी को फिर एक बार भारत पर आक्रमण करने का अवसर दिया। जयचन्द्र ने पृथ्वीराज से परास्त होकर मुहम्मद गौरी को भारत पर आक्रमण

करने का निमंत्रण भेजा और पृथ्वीराज के विरुद्ध सहायता देने का वचन दिया। इस बार भी पृथ्वीराज ने डटकर सामना किया। मुहम्मद गौरी की सेना भागने ही को थी कि जयचन्द्र की सेना ने पीछे से आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराज पकड़े गये और मुहम्मद गौरी उन्हें बंदी बनाकर अपने साथ ले गया। इस प्रकार हिन्दू-स्वाधीनता का दीप सदा के लिये बुझ गया।

इसके दूसरे ही वर्ष मुहम्मद गौरी ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। जयचन्द्र की सेना में उस समय पचास हजार मुसलमान सवार थे। वह युद्ध के समय जयचन्द्र की ही सेना पर उलट पड़े। राठौरों की सेना छिन्न-भिन्न हो गई और जयचन्द्र, कुतुबुद्दीन ऐबक के तीर से घायल होकर घोड़े सहित गंगा में गिर कर डूब गया। इसने कन्नौज में १००० मन्दिर विध्वंस किये और ४०० ऊंटों पर लूटा हुआ सोना और चाँदी लादकर अफगानिस्तान ले गया। इस प्रकार जयचन्द्र को भी अपने देशद्रोह का प्रायश्चित दूसरे ही वर्ष करना पड़ा।

व्यापारी था किन्तु अब उसमे अपने नवीन धर्म के प्रचार की धुन भी थी। अतः उन्होने अब व्यापार के साथ धीरे-धीरे अपना धर्म प्रचार भी प्रारम्भ कर दिया। यह वह समय था जब पौराणिक साम्प्रदायवाद ने हिंदू जाति को खोखला कर दिया था। वह अपना आत्म विश्वास, शौर्य और साहस सब कुछ खो बैठी थी। निम्न जाति के लोगो के साथ ब्राह्मण-क्षत्रियो का व्यवहार अमानुपिक था। पौराणिक भूलभुलैयो मे यहाँ का प्राचीन सरल तथा सुबोध धर्म अपना आकर्षण खो चुका था। मुसलमान आक्रमणकारियो द्वारा अपनी उपास्यदेव मूर्तियो तथा मदिरो की दुर्दशा देख कर हिन्दुओ का धार्मिक विश्वास हिल चुका था। अतः इस नवीन धर्म को पैर जमाने के लिये वहाँ की भूमि कुछ प्रतिकूल न थी।

हिन्दू-राज्यशक्ति पारस्परिक गृहयुद्ध से विनष्ट हो रही थी। मुसलमानो के बढते हुये प्रताप को देख कर प्रत्येक राजा उनकी सहायता से लाभ उठाने के लिये उत्सुक था। मुसलमानो को ऊचे-ऊचे राज्यपद मिलने लगे, जिससे लाभ उठाकर उन्होने स्थान-स्थान पर अपनी मस्जिदे बनानी प्रारम्भ कर दी। उनको राज्य की हर प्रकार की सुविधाए सहज मे प्राप्त होगई और मुसलमानो ने अपनी बस्तिया बसानी आरम्भ करदी। राज्य की ओर से उन्हे अपने पृथक न्यायालय तक स्थापित करने की अधिकार प्राप्त हो गया और उनके लिये पृथक काजी नियत कर दिये गये। इन हिन्दू राजाओ ने इन विदेशियो के आतिथ्य सत्कार मे कोई कसर न उठा रखी। हिन्दू जाति वैसे ही अपने आतिथ्य के लिये सदा से प्रसिद्ध है। फिर इस समय तो उनकी राजनीति और धर्मनीति का मानो दिवाला ही निकल चुका था। अपने और पराये तक का भेद जानने की शक्ति

विनष्ट हो चुकी थी। मुसलमानो ने इस सुअवसर से पूरा पूरा लाभ उठाया और धीरे धीरे अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया। पौराणिक-धर्म उनके समक्ष निश्चय ही निर्बल और आकर्षणहीन था, अतः वह उससे टक्कर लेने मे सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुआ।

प्राचीन वैदिक-धर्म की विश्व को आर्य बनाने की विशुद्ध भावना नष्ट हो चुकी थी। पौराणिक-धर्म में विधर्मियों को अपने में मिलाने का विधान नही है और यदि हो भी तो जन्म-गत जाति-पांति के गोरखधंधे में इन नव आगन्तुकों के लिये हिन्दू समाज मे कोई स्थान नही है। इस्लाम का एकेश्वरवाद जड़ पूजा निषेध, भ्रातृ-प्रेम तथा समानता के भाव निर्विवाद रूप से वैदिक-धर्म के परिज्ञान के अभाव में पौराणिक-धर्म पर विशेषता थी फलस्वरूप न केवल निम्न श्रेणी के दलित हिन्दू ही, अपितु दक्षिण के अनेक राजा तक इस्लाम में दीक्षित हो गये। राजा के धर्म परिवर्तन का स्वभावतः प्रजा पर भी प्रभाव पड़ता है, और ऐसा ही हुआ भी। धीरे-धीरे लाखो हिन्दू मुसलमान हो गये। मालाबार कोदंगल्लूर का राजा चेरामन पेरूमल जेमोरिन की शंकाओं का पौराणिक विद्वान् समाधान न कर सके और वह मुसलमान हो गया। उसका नाम अब्दुर्रहमान रखा गया और वह अरब को मक्का की यात्रा पर चला गया। वहाँ से उसने कई प्रचारक मालाबार भेजे जिन्होंने ११ मस्जिदें बनवाई और इस्लाम का प्रचार किया। राजा वहाँ से नहीं लौटा और ४ वर्ष पश्चात् मर गया।

इस राजा के प्रभाव से वहा इस्लाम का अच्छा प्रचार हुआ। एक अरब यात्री मसूदी ने १० वी शती मे चौल मे १० हजार मुसलमानो की वस्ती पाई। इब्न बतूता ने भी खम्भात से मालावार तक सर्वत्र मुसलमानों की अच्छी जन सख्या देखी और उन्हे समृद्धिशाली पाया। गोआ मुसलमानो के अधिकार मे था। हिनोर मे भी मुसलमानो का राज्य था और मगलोर मे भी ४ हजार मुसलमानो की वसावट थी। सक्षेपत. दक्षिण भारत के समस्त समुद्री तट पर मुसलमानो की बस्तियाँ थी और न केवल मुसलमानों द्वारा किन्तु राजाओ की ओर से वडी २ मस्जिदे वनवादी गई थी।

नज्दवली ने तेरहवी शती मे मदुरा और त्रिचनापल्ली मे बहुत से हिन्दुओ को मुसलमान बनाया। बाबा फखरुद्दीन एक साधु था, पेन्नुकोड़ा मे रहता था, उसने वहां के राजा को मुसलमान बनाया और एक मस्जिद बनवाई। उस समय बीजानगर दक्षिण का एक विशाल राज्य था। राजा की सेना मे १०००० (दस हजार) मुसलमान सैनिक थे, जिनका राजा वडा आदर करता था। राजा ने एक मस्जिद भी बनवादी थी और कुरान को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

मुसलमानों ने हिन्दुओ के अन्ध विश्वास और अज्ञान से भी पूरा लाभ उठाया। उन्होने धर्म प्रचार मे छल, कपट और कूटनीति का यथावसर पूरा उपयोग किया। मालद्वीप मे इस्लाम कैसे फैला? इस सम्बन्ध मे इब्न बतूता ने लिखा है कि यहां के निवासी पहिले सब मूर्तिपूजक थे। यहाँ समुद्र की ओर से प्रति मास एक राक्षस आता था। जब वहाँ के निवासी इसे देखते थे तो एक अविवाहित लड़की को शृंगार

करके उसे देव मन्दिर मे छोड आते थे जो समुद्र तट पर स्थित था। परन्तु मराको के एक अरब शेख अबुल्बर्कात बर्बरी मगरबी जो अकस्मात् यहाँ आये हुए थे उनकी प्रार्थना और कृपा से द्वीप निवासी उससे मुक्त होगये। इस चमत्कार को देखकर वहां का राजा शनो और उसकी समस्त प्रजा मुसलमान होगई। यह समुद्र की ओर से आने वाला राक्षस कौन था और उसका उक्त शेख ने कैसे दमन किया यह एक विचित्र रहस्य है। सम्भवतः यह या तो कोई दुष्ट व्यक्ति था जो उस समय मूर्तिपूजा आदि प्रचलित अनेकानेक अन्ध विश्वासो से लाभ उठाकर वहा की जनता को भयभीत करके इस दुराचारपूर्ण कुकृत्य मे प्रवृत्त था जिसे इस शेख ने वश मे कर लिया या फिर यह किसी मुसलमान की ही करतूत थी, जिसकी सफलता से शेख ने लाभ उठाया। इसी प्रकार मद्रास के दक्षिण के राजा कोयल की एक घटना वर्णित है। राजा कोयल का एक पुत्र मुसलमान होगया था और उसने एक मस्जिद बनवाई था। उसके मुसलमान होने का वर्णन इस-

करते थे वे समय पाकर स्वयं वहाँ के राजा बन बैठते थे। इसके अनेक उदाहरण इतिहास मे मिलते हैं। कारोमडल के राजा सुन्दर पाण्य के मन्त्री तकीउद्दान का भाई जमालुद्दीन, जो राज्य के लिये प्रति वर्ष दस हजार घोडे अरब से लाकर विक्रय किया करता था राजा के मरने पर वहाँ का राजा बन बैठा। जमालुद्दीन के हाथ सात हजार बैलो का बोझ सोना और जवाहरात लगे और तकीउद्दीन उसका सहायक नियुक्त हुआ।

उस समय इस्लाम के प्रचार मे एक अन्य उपाय का भी अवलम्बन किया जा रहा था। मुसलमान फकीर हिन्दू वेष मे मन्दिरो मे रहकर वहाँ की आन्तरिक दशा का अध्ययन करते थे और उनकी सूचना अपने प्रचारको और मुस्लिम शासकों को देते रहते थे, जो समय पर उनसे पूरा लाभ उठाते थे। इब्नबतूता का कहना है कि चन्दापुर के निकट एक मन्दिर में उसकी भेट एक जोगी से हुई जो वास्तव मे एक मुसलमान सूफी था और केवल सकेत से बातचीत करता था। फारसी का प्रसिद्ध कवि शेख सादी सोमनाथ के मन्दिर मे कुछ समय हिन्दू साधु बन कर रह गया था। इसी प्रकार समस्त देश मे मुसलमान साधु बड़ी सरलता और शान्ति से पौराणिक धर्म की दुर्बलता से लाभ उठाकर अपने सिद्धान्तो का प्रचार कर रहे थे। ११९७ ई० मे शेख़ मुईनुद्दीन चिश्तीने अजमेर के मन्दिर के महन्त रामदेव और योगीराज अजयपाल को मुसलमान बनाया। इसी मठ के सूफियो ने आगे चलकर इस्लाम के प्रचार का बडा कार्य किया। दक्षिण मे सद्रुद्दीन ने खोजा सम्प्रदाय को जन्म दिया जो आज-कट्टर मुसलमान हैं।

उत्तर-पश्चिम मे लाखो हिन्दू जहां तलवार के जोर से मुसलमान बनाये गए वहाँ कुछ ऐसे भी थे जिन्होने पौराणिक

मतमतान्तरों और विशेष कर मूर्तिपूजा से असंतुष्ट होकर भी इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। बलाजरी, एक अरब इतिहासकार, जो नवीं शताब्दि में हुआ है, लिखता है कि काश्मीर, काबुल, और मुलतान के बीच आसीफान (आसीवान) के राजा का एक लाडला पुत्र बहुत बीमार हुआ। राजा ने मन्दिर के पुजारियों को बुलाकर उसकी जीवन रक्षा के लिये देवता से प्रार्थना करने को कहा। पुजारियों ने आकर दूसरे दिन कहा कि प्रार्थना की गई और देवताओं ने उसे जीवन-दान देने की कृपा की है। परन्तु राजा का पुत्र थोड़ी ही देर पीछे मर गया। राजा को बड़ा दुःख हुआ। उसने उसी समय जाकर मन्दिर विध्वस करा दिया। पुजारियों के सिर काट लिये गये। राजा ने नगर में जो मुसलमान व्यापारी थे उन्हें बुलाकर उनसे इस्लाम के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पूछताछ की और मुसलमान होगया।

चमत्कारो के आधार पर देश को सहस्रों वर्षों तक लूटा गया, न जाने इन मूर्तियो की दैवी शक्ति उस समय जब मुसलमानो ने उन्हे खण्ड-खण्ड करके मस्जिदो की सीढियो तक मे लगाया, कहाँ विलुप्त हो गई ! आज भी वही मूर्तियां हर प्रकार के चमत्कारो से शून्य है ।

मूर्तिपूजा और उसके कुपरिणामो का चित्रण जो कुछ तत्कालीन अरब यात्रियो और विद्वान् लेखको ने किया है और जो अब भी उपलब्ध है उसे सक्षेप मे हम यहाँ उद्धृत करते है—

इब्ननदीम ने अनेक प्रकार की मूर्तियो और उनकी आकृतियो का वर्णन किया है । यहाँ उसने काली के चार हाथ, नीला रङ्ग, दाँत निकले हुए, पीठ पर हाथी की खाल जिससे खून की बूदे टपकती हैं, शिर पर खोपडियो का ताज और उन्ही की गले मे माला देखी । सूर्य की मूर्ति का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि एक गाडी मे चार घोडे जुते है, एक पर मूर्ति है । उसके भक्त उसको दण्डवत् करते है, चारो ओर घूमते है, धूप जलाते है और वाजा वजाते है । मन्दिर से वहुत सी जायदाद लगी है और वहुत से पुजारी है जो इस मन्दिर और जायदाद का प्रबन्ध करते हैं । चन्द्रमा की मूर्ति का रथ चार वतो (हसो) वाला बताया हैं । मूर्ति के हाथ मे एक वहुत वडा लाल •होता है, जिसे चन्द्रकेतु कहते है । शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को इसकी पूजा होती है । गङ्गा के माहात्म्य का भी इसने वर्णन किया है ।

दूसरा लेखक मुत्कल्लिम महतर (दशम शताब्दि) महादेव, काली, महाकाली और लिङ्ग पूजा का वर्णन करता है । इसने अग्निहोत्री और योगियो का भी अपनी पुस्तक मे उल्लेख किया है । ब्राह्मणो के सम्बन्ध मे लिखा है कि ये गाय की पूजा करते हैं, गगा से पार जाना पाप समझते है और किसी दूसरे

को अपने धर्म में नही लेते। एक अन्य लेखक अब्दुलकरीम शहरस्तानी ने वृक्षो की पूजा का भी उल्लेख किया है।

इन अरब यात्रियो ने देवमन्दिरो में 'देवदासी' प्रथा का बडी घृणा के साथ वर्णन किया है। मूर्तियो के सन्मुख मन्दिरों में अपना जीवन वलिदान करने वाले भक्तो का उन्होने बड़ा रोमांचकारी चित्र खीचा है। गगा मे डूबकर जान देना तो साधारण बात लिखी हैं। अबूजैद सैराफी कहता है—"इन लोगों का आवागमन पर इतना विश्वास है कि अग्नि मे जीवित भस्म हो जाना इनके लिये साधारण बात है। जब कोई अपने आपको भस्म करना चाहता है तो राजा की आज्ञा लेता है। बाजारो मे घूमता हैं, झाँझ वजाई जाती है। एक फूलो का मुकुट जिसमे अग्नि रक्खी होती है उसके सिर पर पहनाते है। और वह इस प्रकार धीरे-धीरे जलता हुआ पूर्व से प्रज्वलित की हुई अग्नि मे कूदकर भस्म हो जाता है।" एक दूसरे व्यक्ति का एक छुरी द्वारा अपना हृदय अपने हाथ से वाहर निकाल कर अपना वलिदान करने का भी इसने वर्णन किया है। एक तीसरे व्यक्ति का मुल्तान के मन्दिर मे अपने शरीर पर तैल और रुई लपेट कर जलने और अपनी वलि देने का रोमाँचकारी दृश्य चित्रित किया है।

मूर्तिपूजा का अंधविश्वास, इस आर्यजाति को कहाँ से कहाँ ले पहुँचा, इसकी साक्षी मे दिये गए उपर्युक्त उद्धरण से अधिक और क्या कहा जा सकता है? साम्प्रदायिक अन्धविश्वास के उन्माद में मनुष्य क्या नही कर सकता, इसके जीते-जागते उदाहरण और क्या हो सकते हैं?

जिन अरब यात्रियो के उद्धरण हमने ऊपर दिए है उनसे तथा इसी प्रकार अन्य विवरणो से मूर्तिपूजा के इतिहास पर एक और प्रकाश पड़ता है इन यात्रियो ने, जिनका समय प्रायः ९वी

शताब्दि से लेकर ११ वी शताब्दि तक आंका जाता है, हिन्दुओं के जिन विभिन्न धार्मिक विश्वासो तथा प्रचलित मूर्तियो का उल्लेख किया है उनमे विष्णु की मूर्ति अथवा वैष्णव सम्प्रदाय के आधारभूत अवतारवाद के सिद्धान्तो का कही विशेष वर्णन नही हैं। इससे सिद्ध है कि वैष्णव सम्प्रदाय और उसके अवतारवाद का जन्म, शैव तथा शाक्त सम्प्रदायो से कही पीछे का है। अथवा उस समय उसका पश्चिमोत्तर भारत मे विशेप प्रचार नही था। कुछ विद्वानो का यह भी मत है कि उस समय का सूर्य देवता ही आगे चलकर विष्णु बन गया क्योकि वेद मत्रों मे सूर्य के लिये भी अनेक स्थानो पर 'विष्णु' शब्द का प्रयोग हुआ है। विप्णु पुराण अध्याय १५ अश प्रथम मे सूर्य के द्वादश नामो में प्रथम नाम 'विप्णु' लिखा है।

तत्र विष्णुश्च शुक्रश्च जज्ञाते पुनरेव च।
अर्य्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च ।।१३१
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च।
अ शो भगश्चादितिजा आदित्या द्वादश स्मृता ।।१३२

विष्णु, शुक्र, अर्य्यमा, धाता, त्वप्टा, पूषा, विवास्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अश और भग ये द्वादश नाम सूर्य के है।

अन्य प्रमाणो के लिते प० शिवशकर काव्यतीर्थ कृत "त्रिदेव-निर्णय" पुस्तक देखिये।

मूर्तिपूजा और मुस्लिमकाल (२)

मुहम्मदगौरी के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। यहाँ तीन सौ वर्ष से अधिक समय तक पठानो ने राज्य किया। उन्होने भी अगणित तीर्थ और मन्दिर विध्वस किये। बिना राजाज्ञा प्राप्त किये कोई तीर्थयात्रा नही कर सकता था। मुस्लिम धर्म विधान के अनुसार प्रत्येक हिन्दू से जजिया लिया जाता था। कुतुबुद्दीन ऐबक ने हाँसी, दिल्ली, मेरठ, कोयल, रणथम्भौर, अजमेर, ग्वालियर, कालिंजर पर आक्रमण किये। हजारो मन्दिरो को विध्वंस किया और लाखों हिन्दुओं को तलवार के घाट उतार दिया।

कुतुबुद्दीन के गुलाम मुहम्मद इब्नेबख्त्यार ने बिहार और बङ्गाल पर चढाई की। मार्ग मे विश्वनाथ महादेव की सुरक्षित नगरी मे हजारो मन्दिरो को विध्वस किया। बिहार के एक बौद्ध विद्यापीठ और पुस्तकालय को जिसमे १२ सहस्र भिक्षु रहते थे जलाकर भस्म कर दिया और समस्त भिक्षुओ के शिर उडा दिये गये। कुछ दिनो पश्चात् अल्तमश ने उज्जैन पर आक्रमण किया और महाकाल के मन्दिर को विध्वस कर करोडो की सम्पत्ति लूटली। इस प्रकार तीनसौ वर्ष तक हिन्दुओ का विनाश होता रहा।

इन्ही पठानो के राज्यकाल मे अफगानिस्तान से तैमूर ने इस देश पर आक्रमण किया। उसने अपने सैनिकों को बुलाकर

कहा—"आप जानते हैं कि हिन्दुस्तान के आदमी मूर्तिपूजक हैं और सूर्य की पूजा करने वाले काफिर है। खुदा और रसूलेखुदा की आज्ञा है कि ऐसे काफिरो को कत्ल करो। मेरा विचार हिन्दुस्तान पर जहाद की चढ़ाई करने का है। इस पर सब लोग 'आमीन अल्लाह' चिल्ला उठे और१३६८ ई० में उसने भारत पर आक्रमण किया। यह जहा हो कर जाता नगरो ग्रामो को लूटता, उनमे आग लगाता, निरपराध नर-नारियो को कत्ल करता और वन्दी वनाता था। भटनेर में उसने एक घन्टे मे दश सहस्र हिन्दुओ को मरवा डाला। दिल्ली पहुँचते-पहुचते उसके पास दो लाख वन्दी होगये। अतः उसने आज्ञा दी कि पन्द्रह वर्ष से अधिक आयु वाले स्त्री-पुरुप कैदी कत्ल करा दिये जायं। ऐसा ही किया गया। रक्त की नदी वहने लगी। पाच दिन तक देहली में लूट, नर हत्या, सतीत्व नाश का अखण्ड राज्य रहा। लाखों हिन्दू मार डाले गये। दिल्ली से मेरठ पर आक्रमण किया और पचास हजार स्त्री-पुरुप कत्ल कर दिये और असख्य जवान स्त्री वच्चे वन्दी वना लिये गये। प्रत्येक सैनिक के पास बीस से सौ तक कैदी आये। यहा से वह हरिद्वार गया। वहा एक पर्व था, यात्रियों की वडी भीड थी। मेले में उसने कत्ले आम की आज्ञा देदी। गङ्गा का जल रक्त से लाल हो गया। मन्दिरो की क्या दुर्दशा हुई होगी इसका पाठक स्वय अनुमान लगाले। वह लूटमार करके कावुल लौट गया। वह यहा से इतना धन ले गया कि ८ वर्ष तक उसकी सेना को समय से पूर्व ही वेतन प्राप्त हो जाता था।

अब समस्त उत्तर-पश्चिमी भारत मुसलमानो के आधीन था। हिन्दू जाति नष्टप्राय हो चुकी थी। उसमे प्रतिरोध शक्ति का सर्वथा अभाव था। जहा एक-एक सैनिक जिस जाति के

सौ-सौ मनुष्यों को बन्दी बना कर अपने वश में रख सकता हो, क्या उसे मनुष्य कहा जा सकता है ? सौ तो भेड़ बकरी भी एक व्यक्ति के वश मे सरलता से नहीं रह सकती ।

एक समय आया कि पठान राज्य भी नष्ट हुआ और इस देश के विधाता मुगल बने । अकबर, जहागीर और शाहजहा के राज्यकाल मे इस्लामी मदान्धता में कुछ कमी आगई । इन्होने हिन्दू मुसलमानों के साथ समान व्यवहार करने का प्रयत्न किया। इनका राज्य विस्तार भी सुदूर दक्षिण को छोड़ कर समस्त भारत मे हो चुका था । किन्तु फिर भी राज्य व्यवस्था में बहुत कुछ मुस्लिम विधान का दौर दौरा था । यह सब कुछ होते हुये भी यह समय बहुत अशो मे शान्ति का समय था । इस काल में भी हिदुओ को धार्मिक स्वतन्त्रता थी यह नही कहा जा सकता। क्योकि राज्याधिकारी प्रायः मुसलमान ही थे और प्रत्येक मुसलमान धर्म प्रचार अपना कर्तव्य समझता है, अतः हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की उनसे आशा रखना व्यर्थ था। हिन्दुओ की दशा पूर्व से कुछ अच्छी थी किन्तु फिर भी दास दास ही है ।

शाहजहाँ को बन्दी बनाकर औरङ्गजेब दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ हुआ । यह कट्टर मुसलमान था और हिन्दुओं को घृणा की दृष्टि से देखता था। काशी पहुँच कर उसने पण्डितो को आज्ञा दी कि सब प्रकार का पठन पाठन बन्द कर दिया जाय। प्रसिद्ध प्रसिद्ध मन्दिरो को तुड़वाकर उसने मस्जिदें बनादी। विश्वनाथ महादेव की मूर्ति को पुजारियो ने तोड़े जाने के भय से एक कुए मे डाल दिया। इस समय भी मन्दिर के स्थान पर मस्जिद खड़ी है। मथुरा मे भी उसने यही किया और हजारो हिन्दुओ

को कत्ल कर दिया। औरङ्गजेब की बनाई मस्जिद आज भी ठीक मथुरा के बीचो बीच विद्यमान है। इसने प्रत्येक प्रान्त के शासक को आज्ञा पत्र भेजा कि समस्त मन्दिर ढहा दिये जाँय, मूर्तियाँ तोड दी जाय, और पाठशालाये बन्द करदी जाय। कुरुक्षेत्र के मेले मे जाकर लाखो हिन्दुओं को इसने अकारण ही कत्ल कर दिया। हिन्दुओ से इसने जजिया लेना भी फिर से प्रारम्भ कर दिया। इस तरह कुछ समय की शान्ति के पश्चात् हिन्दुओ का पुन: विनाश होने लगा।

औरङ्गजेब के अत्याचार से फिर एक बार हिन्दू क्षुब्ध हो गये और लगभग पाँच सौ वर्षों तक घोर अत्याचार सहन करने के पश्चात मुस्लिम शक्ति के विरुद्ध उठ खड़े हुये। पजाब में गुरु गोविन्दसिह और दक्षिण मे शिवाजी ने सैनिक शक्ति सगठित करके औरङ्गजेब का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। अन्त मे औरङ्गजेब बुड्ढा होकर लडते-लडते दक्षिण मे मर गया। और इस प्रकार मुगल साम्राज्य भी विनाश की ओर अग्रसर होने लगा।

औरङ्गजेब के उत्तराधिकारियो ने प्रजा को सन्तुष्ट करने की चेष्टा की किन्तु सब विफल हुई। सिक्खो ने पश्चिमोत्तर भारत पर अधिकार कर लिया। मध्य और दक्षिण भारत में राजपूत और मराठो ने अपना आधिपत्य जमा लिया और मुगल राज्य केवल दिल्ली के इर्द गिर्द ही रह गया। हिन्दुओ को फिर एक बार सङ्गठित होकर स्वाधीन होने का अवसर मिला किन्तु इनकी आन्तरिक विभिन्नताये जिनसे वे आज भी मुक्त नही है, इनके मार्ग मे चट्टान बन कर आ खड़ी हुई और वे जहा के तहां ही रह गये।

सातवी शताब्दि के प्रारम्भ से लेकर सत्तरहवी शताब्दि

के अन्त तक का सक्षिप्त लोमहर्षी इतिहास, मूर्तिपूजा द्वारा उत्पन्न हमारी मानसिक दुर्बलता और इसी दुर्बलता के कु-परिणामस्वरूप हिन्दू जाति के सामाजिक और राष्ट्रीय अधः-पतन का भलीभाँति दिग्दर्शन कराता है।

पन्दरहवी शताब्दि तक योरुप मे भी मूर्तिपूजा प्रचलित थी। वहां के ईसाई रोमन कैथोलिक मूर्ति पूजक थे, और पोप और मोङ्को की ठीक वही अवस्था थी जो कि यहाँ महन्तो और पुजारियो की। योरुप की घोर दुरवस्था थी। नवी शताब्दि में अरब के मुसलमानों ने समस्त योरुप को रौंद डाला और एक वार वहाँ भी गिरजों का विध्वस किया गया। लाखों ईसाई तलवार के घाट उतार दिये गये। किन्तु योरुप मे सोलहवी शताब्दि में एक महान् धार्मिक क्रान्ति हुई। मार्टिन लूथर ने प्रोटस्टैण्ट ईसाई धर्म को जन्म दिया, जिससे ईसाई धर्म की मूर्तिपूजा, पोप और महन्तो के दुष्कर्म सभी भस्म हो गये। योरुप के वर्तमान उत्थान का सूत्रपात इसी समय से प्रारम्भ होता है। सत्य तो यह है कि जो जाति ईश्वर से विमुख होकर मूर्ति आदि जड जगत् को अपना उपास्यदेव मान वैठती है उसे सदा इसी प्रकार अन्धकार में पड़कर घोर यातनाये सहनी पडती है। हिन्दू जाति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस मूर्तिपूजा का उसे कितना भारी मूल्य चुकाना पड़ा। वार वार हिन्दू मन्दिरो को विध्वंस किया गया, मूर्तियाँ तोड़ी गई, और उन्हे मस्जिदो और महलो की सीढियो तक में लगाया गया। तीर्थ स्थानों का असंख्य धन लूटा गया, करोड़ो निरपराध हिन्दुओ को उसके लिए अपना जीवन तक देना पड़ा। परन्तु फिर भी पुराने मन्दिरो के स्थानो पर नये मन्दिर वना दिये गये। टूटी हुई मूर्तियो के स्थान पर नवीन

मूर्तियो की प्राण-प्रतिष्ठा कर दी गई। उजडे तीर्थ-स्थान पुन बसा दिए गए। क्या मूर्तिपूजा मे वास्तव मे ऐसा ही आकर्षण है ? क्या इसमे इतनी आध्य त्म शान्ति है कि उसके बिना इस जाति का कार्य चल ही नहीं सकता ? सत्य तो यह है कि इनमे से इसमे एक भी बात नही है। इन सब की तह मे वही व्यवसाय बुद्धि कार्य कर रही है जो एक व्यापारी को बार बार हानि उठाने पर भी अपने कारोबार को नये सिरे से करने के लिये प्रेरित करती रहती है।

इन मूर्तियो के बल पर मन्दिर और मन्दिरो के बल पर तीर्थ स्थान अपना व्यापार चला रहे है। इनसे महन्तो को लाखो की आय है। पुजारियो को वेतन और खाने को मोहन भोग मिलते है। पण्डो के यात्रियो के आगमन से पौ बारह हैं। व्यापारियो की यात्रियो के द्वारा क्रय विक्रय से दुकान चलती है और राज्य को कर की आय है। यात्रा से लौट कर बडे-बड़े ब्रह्म भोज, दान दक्षिणा सभी इस मूर्तिपूजा की देन है। फिर बताइये उसे जीवित न रक्खा जाय तो क्यो न रक्खा जाय ? इसीलिये यह चक्र लगभग पन्द्रह सौ वर्ष से यहां निरन्तर चल रहा है।

हिन्दू जाति की इस दुर्दशा को देखकर, मुस्लिम काल मे, अनेक सन्तो ने इस मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज उठाई। पजाब मे गुरु नानक ने हिन्दुओ को इस अन्ध-विश्वास से मुक्त करने का भारी प्रयत्न किया। इनके पश्चात् अनेक सिक्ख गुरु भी मूर्तिपूजा की उसी प्रकार आलोचना करते रहे। गुरुओ की वाणी को गुरु ग्र थ साहब मे सग्रह किया गया है। हम उसके मूर्तिपूजा विषयक् कुछ स्थल अगले पृष्ठ पर देते है :—

पाथर ले पूजहि मुगध गवार।
ओहिजा अपि डूवे तुम कहा तरन हार ।।
वुत पूज पूज हिन्दू मुये तुरक मुये सिरुनाई।
आह ले जारे ओह ले गाडे तेरी गति दुहु न पाई ।।
पूजि शिला तीरथ वनवासा।
भरमत डोलत भये उदासा ।।
घरमहि ठाकुर नदरि न आवै।
गलमहि पाहणु लै लटकावै ।।
जिस पाहन कउ ठाकुरु कहता।
ओह पाहणु लै उस कउ डुवता ।।
गुनहिगार लूण हरामी। पाहणनाव न पार गिरामी ।।

गुरु गोविन्दसिंह जी दशम ग्रंथ में मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखते हैं:—

१—इक विनु सौन चिनार।
भंजन गडन समर्थं सदा प्रभु जानत है करतार ।।
कहा भयो जो अति हित चितकर वहु विधि शिला पुजाई।
पान थके पाहन कहि परसत कछुकर सिद्ध न आई ।।
अच्छत धूप दीप अरपत है पाहन कछु न खइ है।
ता मे कहां सिद्ध है रे जड़ तोहि कछू वर दैहै ।।
जो जिअ होत देत कछु तुहि मन वचन कर्म विचार।
केवल एक शरण स्वामी विन यो नही कतहि उधार ।।
२—काहू लै पाहन पूजि धरयो सिरकाहूँ लै लिंग गरे लटकयो।
काहूँ लखयो हरि आवाची दिशा महि काहु पछाह को शीश निवायो ।।
कोऊ वुताने को पूजद है पसु कोऊ मृताम को पूजन धायो।
कूर किया उरझयो सब ही जग श्री भगवान को भेद न पायो ।।

गुरु ग्रन्थ साहब में भक्त कबीर की वाणी का भी संग्रह किया गया है। कबीर साहब ने बड़े कड़े शब्दों मूर्तिपूजा की आलोचना की है। उन्होने अपनी साखियों मे लिखा है:—

१—पाती तोरै मालिनी पाती पाती जीऊ।
जिस पाहन को पाती तारै सो पाहन निरजीऊ॥
पाषाण गढि के मूरति कीनी देकै छाती पाउ।
जे एह मूरति साची है तउ गढनहारे खाउ॥
भातु पहिति अरु लापसी करकरा कासारू।
भोगन हारे भोगिया इसु मूरति के मुख छारु॥

२—जो पाथरु को कहते देव। ताकी वृथा होवे सेव॥
जो पाथरु की पाई पाय। तिसकी थाल अंजाई जाय॥
अन्तरि देव न जानै अन्धु। भ्रम का मोहिआ पावै फन्धु॥
न पाथर बोलै ना किछु देई। फोकट कर्म निष्फल है सेव॥
जो मृतक को चन्दन चढावै। उसते कहहु कवनि फल पावै॥
जो मृतक को विष्टा माहि रुलाई। ता मृतक क्या घटि जाई॥
कहत कबीर हो कहहहुँ पुकार। समझ देख साकत गवार॥

३—देवी देव पुजहि डोलहि पारब्रह्म न जाना।
कहत कबीर अकलु नहि चेतिआ विषया सिउ लिपटाना॥

४—पाथर पूजे हरि मिले तो हम पूजें पहार।
या पाथर से चक्की भली जो पीस खाई संसार॥

दादू कबीर के शिष्य थे। इन्होने भी कबीर की भांति मूर्तिपूजा की आलोचना की और उसका विरोध किया। दादू कहते है:—

पत्थर पीवे धोई कै पत्थर पूजै प्रान।
अन्तकाल पत्थर भये भव डूबे अज्ञान॥

एक और प्रसिद्ध सन्त मलूकदास अकबर के समय में हुए हैं। उन्होने भी मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि का खन्डन किया।

सत्यनामी सम्प्रदाय के सस्थापक वीरभान दादू के समकालीन थे। उन्होने सत्य-नामियो के "आदि-उपदेश" में '१२ हुक्म' दिए है जिनमे पहिले हुकम मे वे लिखते हैं—

'केवल एक ही ईश्वर को मानो। मिट्टी, पत्थर, लकड़ी या और किसी बनी हुई चीज की पूजा न करो।' इसी प्रकार अपने आठवे हुकम मे उन्होने लिखा है कि किसी मूर्ति के सामने सिर मत झुकाओ '

औरगजेब के समय मे प्राणनाथ एक गुजराती सन्त हुए हैं। इन्होंने भी मूर्तिपूजा का विरोध किया।

एक अन्य सन्त चरनदास भी मूर्तिपूजा के विरोधी थे। रामसनेही सम्प्रदाय के सस्थापक रामचरन ने भी मूर्तिपूजा की आलोचना की है।

सन्त नामदेव के गुरु खेचर ने नामदेव को जो उपदेश दिया उससे सिद्ध है कि वे भी मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। उन्होने कहा है:—

पत्थर का देवता कभी नही बोलता, तो फिर वह हमारे इस जीवन के दु.खो को कैसे दूर कर सकता है? पत्थर की मूर्ति को लोग ईश्वर समझ बैठते है, किन्तु सच्चा ईश्वर बिल्कुल दूसरा ही है। यदि पत्थर का देवता हमारी इच्छाये पूरी कर सकता तो गिराने पर वह टूट क्यो जाता? जो लोग पत्थर के बने हुए देवता की पूजा करते है वे अपनी मूर्खता से सब कुछ खो बैठते है। जो लोग यह कहते है और जो यह सुनते हैं 'कि पत्थर का देवता अपने भक्तो से बातचीत करता है, वे दोनो मूर्ख हैं। भक्त रैदास ने भी अपने उपदेशों मे मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विरोध किया है।

महाराष्ट्र प्रान्त मे तीन प्रसिद्ध सन्त हुए है। सन्त तुकाराम, समर्थगुरु रामदास तथा सन्त ज्ञानेश्वर। इन सन्तो ने भी मूर्ति-पूजा और अवतारवाद का पर्याप्त खण्डन किया है।

सन्त तुकाराम मूर्तिपूजा के सम्बन्ध मे बड़े दुःख से कहते है :—

ज्याने देहासि निर्मिले, जीव त्याने वसरले ।
ज्याच्या सत्तेने वर्तती, मूढ त्याने न जाणति ।
जैसे गर्भान्ध जन्मती, आपूल्या मातेला नेणति ।
तैसे नेणूनी चेतन, पूजिदगड अचेतन ।

जिस प्रभु ने कृपा करके जीव के लिये मनुष्य देह को बनाया, जीव ने उस प्रभु को भी बिसार दिया। जिस प्रभु की सत्ता से ही प्राणीमात्र अपना व्यवहार कर रहे है मूढ़ लोग उस प्रभु को नही देख सकते। वैसे अज्ञानी लोग चेतन प्रभु को न जानकर अचेतन पत्थर आदि की पूजा करते है। सन्त तुकाराम आगे फिर लिखते है :—

ज्यांला टाकिने फोड्ति, त्याच्या पुढे हाथ जोडिती ।
ज्याच्या शोच कूप घडविती, त्याला देव ठरविति ।।
पूजा उपचार अर्पिती, अत्यादरे नमस्करिती ।
परीतो ऐके बोले न पाहे, मूढ त्यांसी मानि ताहे ।।

अर्थात वे मूर्तिपूजक मूर्ति बनाते समय इस पत्थर को हथौडे से घड़ते तथा फोडते हैं, फिर उसी मूर्ति के सामने हाथ जोड़ते है। जिस पत्थर को भगवान् कह कर उसकी पूजा उपचार करते है, उसके आगे बड़े आदर से हाथ जोडते है। कितने आश्चर्य की बात है कि वह पत्थर न तो सुनता है, न बोलता है और न देखता है किन्तु मूढ़ लोग उसे ही परमेश्वर मान रहे है।

सन्त तुकाराम ने मूर्तिपूजा की आधुनिकता का वर्णन निम्न शब्दों मे किया है :—

दगड़ाचे देव पूर्वी नन्हते जाणु, जनहे अज्ञान झाले जेन्हा ।
जनहे अज्ञानी दगड़ा मानिले, गुरुसि त्यागले मूढ पणे ॥

हे मनुष्यो ! तुम यह निश्चय समझो कि प्राचीन समय में पत्थरो के देव नही हुआ करते थे। जब लोग अज्ञानी बन गए उन अज्ञानी लोगो ने पत्थरों को मानना प्रारम्भ कर दिया और अपनी मूर्खता से सच्चे गुरु को त्याग दिया। पाँच चेतन मूर्तियों की पूजा ही सच्ची मूर्तिपूजा है। इसका उल्लेख उन्होंने निम्न शब्दों में किया है :—

माता पिता आचार्य अतिथि गुरु सचेतन मूर्ति ।
त्याला शरण तू जांवसी, तरी च कल्याण पावसी ॥

हे जीव ! माता, पिता, आचार्य, अतिथि और गुरु यही पाँच चेतन मूर्तियाँ है। इनकी ही यदि तू शरण में जायगा तभी तेरा कल्याण होगा। सन्त तुकाराम अवतारवाद का भी निम्न शब्दो में खण्डन करते हैं :—

नाही रूप नाही नाव नाही ठाव धराया ।
जेथे जावे तेथे आहे विट्ठल मायबहिन ॥

अर्थात् परमेश्वर ने न तो कोई रूप धारण किया, न ही कोई नाम रखाया और न कही जन्म लिया। वह मेरी सच्ची माता बहिन तो जहाँ जावे वही रम रही हैं। एक स्थान पर भगवान् के गुणों का वर्णन करते हुए वह कहते हैं :—

ऐसा चेतन निराकार त्यासी कल्पिती आकार ।
परिपूर्ण अविनाश, त्यासी मानिती विनाश ॥
अव्यक्तासी व्यक्ति मानुनी करी स्थूल भक्ति ।
तोचे मूढमति नर, व्यर्थ जन्म ले पामर ॥

मूढ लोग ऐसे चेतन निराकार प्रभु के भी आकार की कल्पना करते हैं। अर्थात उस निराकार प्रभु को अवतार आदि मानकर उसे साकार बनाते हैं। और जो प्रभु सब में परिपूर्ण और अविनाशी है उसका भी नाश मानते है। उस अव्यक्त प्रभु को व्यक्ति मानकर उसके स्थूल आकार अर्थात् मूर्ति आदि की पूजा करते हैं। ससार मे ऐसे लोग मूढ और पामर हैं। उन्होने व्यर्थ ही जन्म लिया है।

छत्रपति शिवाजी के समर्थ गुरु रातदास अपने प्रसिद्ध ग्रथ दासबोध मे ईश्वर को सर्वान्तिर्यामी समझ प्राणि-मात्र की सेवा करने और परमेश्वर के पवित्र नाम जप करने को ही ईश्वर की सच्ची भक्ति बताकर आगे लिखते है.—

सहज सोडूनि सायास, हाचि कोणी एक दोष।
आत्मा सोडूनि अनात्म्यास ध्यानी धरती ॥
परितो धरिता हि धखेना ध्यानि येती व्यक्ति नाना।
उगेचि कष्टविती मना कासा वीस्र करनी ॥
मूर्ति ध्यान धरिता सायासे, तेथे एक चि एक दिसे भासो
नये तेचि भासे, विलक्षण ॥

अर्थात् मनुष्यो के अन्दर यही भारी दोष है कि वे परमेश्वर के उपर्युक्त सरल ध्यान को छोडकर अनात्मा अर्थात् जड़ मूर्ति का ध्यान करने लग जाते हैं। किन्तु वास्तव मे मूर्ति के द्वारा परमेश्वर का ध्यान कर ही नही पाते। क्योकि मूर्ति का ध्यान करते समय इनको अनेक प्रकार की मूर्तियाँ दीखने लगती है, जो कि उपासक के मन को डावांडोल कर व्यर्थ ही में उसे उल्टा कष्ट देने का कारण बनती हैं।

उपासक को कष्टसाध्य मूर्ति का ध्यान करते समय कुछ और का और ही दीखने लग जाता है। जिसका उसे समय

भान भी नही होना चाहिए वह भी होने लगता है जो कि उपासक के मन को चचल और दुखी वना देता है।

अवतारवाद के सम्बन्ध में उन्होने अपने विचारो को निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है :—

देवदास देहधारी कल्पिती, तेथे नाना विकल्प उठती ।
भागणे त्यागने विपत्ति, देह योगे ॥
(दास वोध दशक १४ समास ८)

अर्थात मूर्तिपूजकों के सन्मुख जहाँ अन्य बहुत सी कठिनाइयाँ उपस्थित होती है, वहाँ उन्हे परमेश्वर को भी देहधारी कल्पना करना पड़ता है। उस समय उनके मन मे अनेक विचार उठने लगते हैं। यदि परमेश्वर ने देह धारण का होगी तो देह योग के कारण वह भोग, त्याग और विपत्ति मे भी फँसा होगा। इसी दासवोध मे एक स्थल पर लिखा है :—

धातु पापाण मृत्तिका, चित्रलेख काष्ठ रेखा ।
तेथे देव कैचा मूर्खा, भ्रान्ति पडली ॥

हे मूर्ख ! धातु पत्थर मिट्टी चित्र और काष्ठ मे परमेश्वर कहाँ है ? तू भ्रम से उनकी पूजा मे लगा है।

सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता के ऊपर "ज्ञानेश्वरी" नाम का महाराष्ट्र की "ओवी" नाम को कविता मे भाष्य किया है जो कि वहुत ही प्रसिद्ध है। अन्य कई भाषाओं मे भी उसका अनुवाद हुआ है । उसमे गीता के—"अवजानन्ति मां मूढा मानुपी तनुमाश्रितम्" इस श्लोक का भाष्य करते समय मूर्तिपूजा आदि के सम्वन्ध मे वड़े सुन्दर भावो को दर्शाया है। जिसके कुछ अश निम्न प्रकार है :—

जैसा कृत निश्चय वायां गेला, जैसा कोणी काँजी प्याला ।
मज परिणाम पाहोंला गला अमृताचां, तैसे स्थूलकारी नाशीवंते,
भरवसा वान्वोनि चित्ते ।

पाहती मज अवि नाशाते, तरी केचा दिसे ।

जैसे कोई कांजी पीकर अमृत का फल प्राप्त करना चाहे उसी प्रकार जो नाशवान् मूर्ति आदि स्थूल पदार्थो मे अपने चित्त को उन्हे ईश्वर समझ कर लगाते है और उस अविनाशी ईश्वर को देखना चाहते है, उनका प्रयास भी विफल ही जाता है। इसी प्रकार आगे अवतारवाद का खण्डन करते हुए सन्त ज्ञानेश्वर ने लिखा है :—

गव आकार एक पुढा देखती, तवं हा देव येणें भावें भजती । मगतोचि विगडलिया टाकती, नाही म्हणोनि ।

यह मूर्तिपूजक जव भी कोई पत्थर आदि का आकार सामने देखते है तभी यह परमेश्वर हैं, ऐसा समझ कर पूजा करने लगते है और जव वही आकार किसी प्रकार से विगड जाता है तो ये ईश्वर नही है ऐसा कह कर उसे फेंक देते है।

इसी भाँति लिङ्गायत सम्प्रदाय के सन्त वश्वेवर कहा करते थे:—एक ईश्वर के सिवाय कोई दूसरा देवता नही है। छोड़ो ! छोडो ! अन्य देवी देवताओ का विचार करना भी पाप हैं। एक परमेश्वर के सिवाय अन्य देवो का स्मरण करना व्यभिचार है। एक ईश्वर ही हमारा पूज्य है। जव शरीर ही मन्दिर है तो दूसरे मन्दिर की आवश्यकता क्या है ? कही कोई बर्तन देवता है, कही कोई वृक्ष देवता है, कही गली मे पडा हुआ पत्थर देवता है। मित्रो, देखो ! इन असख्य देवताओ के कारण कही खडे होने को स्थान नही रहा। मेरी वात पर विश्वास करो। देवता केवल एक ही है, और वही हमारा सबका परमेश्वर है।

दक्षिण भारत के सबसे वडे योगियो मे से एक शिवाषिकवर हुए है। उन्होने लिखा है:—

नट्ट कल्लै दैव मेन्ह वालु पुष्पं सात्तिये,
सुत्तिवन्दु मोन मोनेन्रु सोल्ल मत्र मेतडा ।
नट्ट कल्लम् पेसुमी नाद नुल्लि रुक्कै यिल्,
सुट्ट सट्टि सट्टुवम् करिच्चुवै यरि युमौ ॥

मंत्र पढते हुए मूर्ति की परिक्रमा करने से क्या लाभ जब परमात्मा स्वयं हमारे अन्दर विद्यमान है ? जिस पात्र मे हम भोजन पकाते हैं वह पात्र उस भोजन का स्वाद नहीं जानता । जिस मूर्ति की मनुष्य ने स्थापना की है वह बोलती तक नही ।

दक्षिण भारत के एक तामिल आचार्य माणिक्कवाचवर ने मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखा है :—

कल्लिलुम् शेमिवलुमो इरुवान एङ्ग लृकण्णुतले ।

क्या ईश्वर जो आँख की पुतली की तरह प्रिय है, वह पत्थर अथवा धातु को अपना निवास स्थान वना सकता है ?

मुसलमानों द्वारा मन्दिरों तथा मूर्तियो के निरन्तर विध्वंस के कारण न केवल विवेकी हिन्दू समाज अपितु जनसाधारण भी पौराणिक धर्म के वहु ईश्वरवाद एवं मूर्तिपूजा की निस्सारता का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगा था । ऊपर दिये गये सन्तों के उद्धरण उस विचारधारा का जो उस समय देश में वह रही थी, एक सुस्पष्ट प्रमाण है । इन सन्त मतों का भी उस समय देश पर अच्छा प्रभाव पड़ा । सिक्खो के शक्ति संग्रह और महाराष्ट्र के तत्कालीन उत्कर्ष में इनका अच्छा हाथ था । सम्भव है कि उस समय के हिन्दुओं का इतिहास कुछ भिन्न प्रकार से ही लिखा जाता, किन्तु एक हजार वर्ष के मुस्लिम अत्याचारों से पददलित हिन्दू अभी भली प्रकार सँभलने भी न पाया था कि पश्चिम की योरुपीय जातियों का यहाँ पदार्पण हो गया । उनकी कूटनीति ने हिन्दुओ की विखरी हुई शक्ति को पुनः

सङ्गठित होने का अवसर न दिया। कदाचित् हिन्दुओ को अपने अवशेष पापो का फल अभी और भोगना था।

एक बात यह भी थी कि प्राय. यह समस्त सन्त, भक्त और महात्मा उच्च कोटि के विद्वान न थे। यह प्राय: न केवल प्राचीन वैदिक सस्कृत साहित्य से अनभिज्ञ थे अपितु इनमे से बहुत से तो सस्कृत भाषा भी नही जानते थे। इन्हे वैदिक एकेश्वरवाद और उपासना विधि का पूरा ज्ञान नही था। इनमे न महात्मा बुद्ध की सी तपस्या थी और न शङ्कर स्वामी जैसा पाण्डित्य था जो भारतीय विचारो को प्रभावित करता। अत: इनका प्रभाव सीमित ही रहा। किंतु फिर भी इन्होने अपनी शक्ति और सामर्थ्यानुसार उस समय सुधार किया।

मूर्तिपूजा और वर्तमान सुधारकाल

मुस्लिम सत्ता के पतन और अँग्रेजी राज्य स्थापना के मध्य फिर इस देश मे एक बार उथल-पुथल हुई। परन्तु शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो गई। अग्रेजो द्वारा धार्मिक स्वतन्त्रता की घोपरणा ने लगभग एक हजार वर्ष के पश्चात् हिन्दुओ को धर्म के विपय में पुन: सोचने समझने का अवसर दिया। योरुपीय जातियो के आगमन के साथ साथ ईसाई पादरियो का भी इस देश मे पदार्पण हुआ। मुगल सम्राटो के समय मे ही इन्होने किसी-न-किसी रूप में अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इनका कार्यक्षेत्र आरम्भ मे दक्षिरणीय तट पर स्थित प्रान्त ही थे और सवर्ण हिन्दुओ से पीड़ित असवर्ण जातियाँ ही स्वभावतः उनके प्रभाव मे आई।

अग्रेजो के राज्यारूढ होते ही योरुप के अनेक ईसाई मिशनों ने समस्त भारत में अपने प्रचार केन्द्र स्थापित कर दिये। उन्होने स्थाम-स्थान पर मिशन स्कूल खोले, और अग्रेजी भापा की शिक्षा के साथ ईसाई धर्म और पश्चिमी सभ्यता में यहाँ के युवकों को दीक्षित करना प्रारम्भ कर दिया। राज्य की ओर से ईसाई-धर्म प्रचार मे कोई सीधा सहयोग तो नही था, किन्तु मिशन स्कूलों और अस्पतालो को राज्य की ओर से मुक्तहस्त से आर्थिक सहायता दी जाती थी। परिणाम स्वरूप इन शिक्षणालयों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दू शिक्षित समाज धीरे

धीरे ईसाई धर्म से प्रभावित होने लगा। बहुत से युवक ईसाई हो गये और बहुत से ईसाई धर्म की विशेषता और हिन्दू धर्म, जो केवल पौराणिक रूढियो का एक पिंजरमात्र था, की हेयता का अनुभव करते थे। पौराणिक धर्म का सबसे निर्बल मर्मस्थान मूर्तिपूजा ही इन पादरियो का प्रहार केन्द्र था।

बङ्गाल के सुप्रसिद्ध सुधारक राजा राममोहन राय ने इस नई आपत्ति का अनुभव किया और ब्रह्म समाज की स्थापना की। उन्होने हिन्दू जाति को मूर्तिपूजा के अन्ध विश्वास से निकालने का भरसक प्रयत्न किया। राजा राममोहन राय अरबी, अँग्रेजी और सस्कृत के अच्छे पण्डित थे। उन्होने अपने लेखो मे मूर्तिपूजा का विद्वत्तापूर्ण ऐवं युक्तियुक्त खण्डन किया है। उनके तत्संबधी अनेक उद्धरण न देकर हम केवल दो, पाठको के अवलोकनार्थ उपस्थित करते हैं :—

Many learned Brahmins are perfectly aware of the absurdity of idolatry. and are well informed of the nature of the purer mode of divine worship. But as in the rites, ceremonies. and festivals of idolatry, they find the source of comforts and fortunes, they not only never fail to protect idol worship from all attacks, but even advance and encourage it in the utmost of their power, by keeping the knowledge of their scriptures concealed from the rest of the people. Their followers too, confiding in these leaders, feel gratification in the idea of the Divine Nature residing in a being resembling themselves in birth, shape and propensities; and are naturally delighted with

a mode of worship agreeable to the senses, though destructive of moral principles, and the fruitful parent of prejudice and superstition ”

(Works of Raja Rama Mohan Roy

Vol. I, p. 70)

बहुत से विद्वान् ब्राह्मण मूर्तिपूजा की निस्सारता तथा ब्रह्मोपासना की अधिक सङ्गत और शुद्ध विधि से भली भांति परिचित हैं परन्तु मूर्तिपूजा सम्बन्धी परिक्रियाये और उत्सव उनके लिये प्रत्येक सुविधा और धन उपार्जन के साधन प्रस्तुत करते है। अतः ये न केवल मूर्तिपूजा पर किये गए समस्त आक्षेपो का समाधान करने के लिये सदा तत्पर रहते है अपितु उसके प्रचार और प्रोत्साहन में अपनी सारी शक्ति लगा देते है। इस कार्य सिद्धि के निमित्त वे धर्म-शास्त्रो को भी सर्व साधारण से छिपाये रखने का प्रयत्न करते है। इनके अनुगामी भी उन नेताओ मे अन्ध श्रद्धा रखते है। वे इस विचार मे ही परम सन्तोष का अनुभव करते है कि उन जैसे ही प्राणी में जो जन्म, आकृति और गुणो मे उनके ही तुल्य है, दैवी शक्ति का निवास है और स्वभावतः उस पूजा विधि मे ही सन्तुष्ट रहते है जो केवल उनको ऐन्द्रिक सुख की उपलब्धि में सहायक है। उन्हें इस बात की चिन्ता नही कि उक्त विधि नैतिक सिद्धांतो के लिये घातक और अनेक प्रकार की रूढ़ियो और अन्धविश्वास की जननी है। राजा राममोहन राय अपनी आत्मकथा मे एक स्थान पर लिखते हैं :—

“The ground which I took in all my controversies was not that of opposition to Brahminism but to a

perversion of it, and I endeavoured to show that the idolatry of the Brahmins was contrary to the practice of their ancestors and the principles of the ancient book and authorities which they profess to revere and obey."

"मैने अपने समस्त विवादो मे ब्राह्मण धर्म का विरोध नही किया, अपितु उसके विपरीत यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ब्राह्मण धर्म की मूर्तिपूजा, उनके पूर्वजो, प्राचीन धर्म ग्रन्थ एव उन प्रमाणो के विपरीत है, जिन्हे वे अपने लिये मान्य और आदरणीय समझते है।"

राजा राममोहन राय के पश्चात् ब्रह्मसमाज और उसके नेताओ ने बङ्गाल प्रान्त मे अच्छा सुधार कार्य किया। परन्तु राजा राममोहन राय के उत्तराधिकारी ब्रह्मसमाज के नेता नव आगन्तुक ईसाई धर्म और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से न बच सके। फलत: ब्रह्मसमाज विशुद्ध भारतीय संस्कृति का पोषक न रहकर पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह में बह गया और वह बङ्गाल से आगे न बढ सका।

महामान्य गोविन्द रानाडे के प्रार्थना समाज ने भी महाराष्ट्र मे मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रशसनीय कार्य किया किन्तु उसकी दशा भी बहुत कुछ ब्रह्म समाज की सी ही होकर रह गई।

वह भी बम्बई प्रान्त के अग्रेजी शिक्षित समुदाय तक सीमित रहा और आज उसका नाम भी सुनने में नही आता। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज दोनो ने ही हिन्दू युवको को ईसाई धर्म के बढते हुए प्रभाव से रक्षा करने मे सराहनीय कार्य किया। उसके लिये हिन्दू जाति, इन दोनो महापुरुषो की सदा आभारी रहेगी।

ठीक इसी समय जब देश धार्मिक तथा सामाजिक क्रांति के तट पर खड़ा था और ईसाई धर्म पाश्चात्य देशो की सरक्षता में यहा अपने पैर फैला रहा था, एक तीसरे महापुरुष ने स्वामी दयानन्द के रूप मे पदार्पण किया। इस महान् सुधारक में अन्य सन्त और महात्माओ से जिनका कि हमने ऊपर उल्लेख किया है कई विशेपताए थी। वह विशुद्ध भारतीय सस्कृति का उपासक था। उसकी समस्त शिक्षा-दीक्षा प्राचीन भारतीय शैली पर संस्कृत भापा द्वारा हुई थी और उसके समस्त विचार भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत थे।

स्वामी दयानन्द को किस प्रकार बोध हुआ, यह भी हमारे प्रतिपाद्य विपय से गहरा सम्बन्ध रखता है। उस समय दयानन्द की अवस्था केवल १३ वर्ष की थी। वह अपने पिता के साथ एक शिवालय मे शिवरात्रि का जागरण कर रहे थे। पिता तो निद्रा के वशीभूत होकर सो गये किन्तु दयानन्द जागते रहे। वहाँ जो घटना घटी उसका वर्णन स्वय स्वामी दयानन्द के ही शब्दो में सुनिये:—

"जब मैं मन्दिर में इस प्रकार अकेला जाग रहा था तो घटना उपस्थित हुई। कई चूहे बाहर निकल कर महादेव की पिण्डी के ऊपर दौडने लगे। और बीच बीच में महादेव पर जो चावल चढ़ाये गये थे उन्हें भक्षण करने लगे। मैं जागृत रह कर चूहों के इस कार्य को देखने लगा। देखते देखते मेरे मन मे आया कि ये क्या है? जिस महादेव की शान्त पवित्र मूर्ति की कथा, जिस महादेव के प्रचण्ड पाशुपतास्त्र की कथा, जिस महादेव के विशाल वृपारोहण की कथा गत दिवस व्रत के वृतान्त में सुनी थी, क्या वह महादेव वास्तव मे यही है? इस प्रकार मैं चिन्ता से विचलित हो उठा

मैंने सोचा कि यदि यथार्थ में यह वही प्रबल प्रतापी, दुर्दान्त दैत्यदलनकारी महादेव है तो यह अपने शरीर पर से इन थोडे से चूहो को क्यो विताडित नही कर सकता ? इस प्रकार बहुत देर तक चिन्ता-स्रोत मे पडकर मेरा मस्तिष्क घूमने लगा। मैं आप ही अपने से पूछने लगा कि जो चलते-फिरते है, खाते-पीते हैं, हाथ मे त्रिशूल धारण करते है, डमरू बजाते है, और मनुष्यो को शाप दे सकते है, क्या यह वही वृषारूढ देवता है जो मेरे सामने उपस्थित है ?"

उपर्युक्त घटना ने इस बालक के मूर्तिपूजा के विश्वास को हिला दिया । उन्होने अपने पिता को जगाकर उनसे इस शङ्का का सामाधान चाहा । परन्तु सतोषजनक उत्तर न मिलने पर वह उसी समय घर लौट आये, और व्रत भङ्ग करके भोजन कर लिया । इस साधारण घटना का अन्त यही नही होगया, इसने सच्चे शिव को जानने और उसका साक्षात् करने की लालसा को दयानन्द मे जागृत कर दिया । और उन्होने अपने समस्त जीवन को इसी खोज मे लगा दिया ।

एक दूसरी घटना ने उनमे महात्मा बुद्ध की भाँति वैराग्य की भावना उत्पन्न करदी, जिसने उन्हे ससार से ही विरक्त कर दिया । उनकी बहिन और चाचा की जिन्हे वह बहुत प्रेम करते थे मृत्यु होगई । दयानन्द कहते हैं—"मैंने सोचा कि ससार की सभी वस्तुए अस्थायी और चञ्चल हैं, तब ऐसी वस्तु कौन है जिसके लिये ससार मे रह कर सासारिक लोगों के समान जीवन यापन करूं ।" उन्होने ऐसा ही किया । जब उनकी अवस्था २०-२१ वर्ष की थी ठीक उस समय जब उनके पिता उन्हे विवाह बन्धन मे बाँधना चाहते थे, दयानन्द ने सदा के लिये गृह का परित्याग कर दिया, और अपने शेष

जीवन को विद्याभ्यास, योग साधन, समाज सुधार और परोपकार मे लगा दिया। उन्होने विद्वानो और योगियों की खोज में भारत के कोने-कोने को छान डाला। जहाँ भी वह किसी योगी अथवा विद्वान् की उपस्थिति की सूचना पाते वही पहुंचते। इस अन्वेपरा में उन्होने भयानक वनों, पहाडों की कन्दराओ और हिमाच्छादित शिखरो की अनेक बार यात्रा की। लगभग १२, १३ वर्ष के तप और स्वाध्याय के पश्चात् दयानन्द का मथुरा के अद्वितीय विद्वान् नेत्रहीन-दण्डी स्वामी विरजानन्द से साक्षात् हुआ। विरजानन्द उस समय अपनी विद्या के लिये समस्त उत्तरी भारत में 'व्याकरण सूर्य' के नाम से प्रसिद्ध थे। जन्मान्ध होते हुए भी उनको अनेक शास्त्र कण्ठ थे। जिस श्लोक को एक बार सुन लेते थे उन्हें विस्मृत नही होता था। मथुरा में स्वामी विरजानन्द की एक सस्कृत पाठशाला थी, दयानन्द ने यही रह कर तीन वर्ष तक वेदवेदाङ्ग तथा अनेक शास्त्रो का अध्ययन किया। और अन्त मे दण्डी विरजानन्द से गुरुदीक्षा लेकर अपनी शिक्षा समाप्त की। दयानन्द की अवस्था उस समय लगभग ३६ वर्ष की थी।

यदि दयानन्द का दण्डी विरजानन्द से साक्षात् न होता तो सम्भव था कि वह अपने शेष जीवन को योगाभ्यास और तपश्चर्या मे लगा देते। किन्तु इसने दयानद के जीवनप्रवाह को ही बदल दिया। गुरुदक्षिणा में दयानन्द से दण्डी स्वामी ने यह एक विलक्षण प्रतिज्ञा चाही कि वह अपना समस्त जीवन आर्ष ग्रन्थो की महिमा स्थापित करने और अनार्ष ग्रन्थो का खंडन करने में लगादे। विरजानन्द अनार्ष पौराणिक मतो के घोर विरोधी थे। किंतु चक्षुविहीन होने के कारण वेद-प्रतिपादित प्राचीन आर्य धर्म का प्रचार करने मे स्वयं असमर्थ

थे। अब उन्हे दयानन्द के रूप में एक शिष्य मिल गया जिसके द्वारा वह अपनी इच्छापूर्ति कर सकते थे। दयानन्द ने उनकी आज्ञा के सन्मुख अपना शिर झुका दिया और जीवन के अन्तिम क्षण तक उसे निभाया।

दयानन्द ने अपनी प्रगाढ विद्या और तपोबल से पजाब से बम्बई तक और काठियावाड से बंगाल तक समस्त भारतवर्ष को हिला दिया। दयानन्द जहाँ कही गया उसने वहाँ के विद्वानों को वेदो से मूर्तिपूजा सिद्ध करने के लिये आह्वान किया। उसने घूम-घूम कर समस्त देश मे सहस्रों व्याख्यान दिये और सैकड़ो शास्त्रार्थ किये। दयानन्द की व्याख्यान शैली इतनी प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही थी कि श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। उसका अकाट्य तर्क विपक्षी को नतमस्तक कर देता था। दयानन्द के तर्क और शास्त्रार्थ से घबराकर विरोधियों ने यहाँ तक कहना आरम्भ कर दिया कि दयानन्द को सिद्धि प्राप्त है। उसके सन्मुख जाकर कोई जय-लाभ नही कर सकता।

स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा पर अनेक शास्त्रार्थ किये और सस्कृत विद्या के गढ काशी को अपने विद्या बल और वाग्मिता से अनेक बार हिला दिया। विपक्षी या तो सन्मुख ही नही आते थे और यदि आते थे तो परास्त होकर शास्त्रार्थ को तिलाँजलि दे उद्दण्डता और असभ्य व्यवहार पर उतारू हो जाते थे। किन्तु ऐसे भी अनेक अवसर आये जब सत्यान्वेषी विपक्षी ने अपनी पराजय स्वीकार करली।

एक बार एक विद्वान् पण्डित ने यह प्रतिज्ञा करके स्वामी दयानन्द से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ किया कि या तो वह

दयानंद को परास्त करके उनके हाथों अपनी मूर्ति को भोग लगवा देगा या स्वय पराजित होकर उनका मत ग्रहण कर लेगा। कई दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। अत में पण्डित ने अपनी पराजय स्वीकार करली और मूर्तियों को गगा मे बहा दिया। स्वामी दयानन्द के मूर्तिपूजा-खण्डन से प्रभावित होकर अनेक स्थानों पर लोगो ने अपनी अपनी देव मूर्तियों को गगा मे प्रवाहित कर दिया। स्वामी दयानंद को अनेक प्रलोभन दिये गये कि यदि वह मूर्तिपूजा का खण्डन न करे तो उनको अमुक मठ की गद्दी दे दी जायगी अथवा उनको समस्त हिन्दू जनता अपना सर्वमान्य नेता स्वीकार कर लेगी। किंतु उनका सदा यही उत्तर रहा कि, "मैं तुम्हारी इच्छा-पूर्ति करूँ अथवा ईश्वरीय आज्ञा का पालन ?" उन पर अनेक बार आक्रमण किये गये, कई वार विष दिया गया, वहुत प्रकार की धमकियाँ दी गईं किंतु उन्होने मूर्ति-पूजा के खडन में कोई समझौता नही किया। पादरी के० जे० लूकस ने जिसने स्वामी दयानद के व्याख्यान सन् १८७७ ई० मे फरुखावाद में सुने थे और उन से भेंट भी की थी, वतलाया कि "वह मूर्ति-पूजा के विरुद्ध इतने वल, इतने स्पष्ट और विश्वास के साथ वोलते थे कि मुझे फरुखावाद की जनता की ओर से उनका हार्दिक स्वागत किये जाने पर आश्चर्य हुआ। मुझे उनका यह कथन स्मरण है कि जब मैंने उनसे कहा कि यदि आपको तोप के मुँह पर रख कर आपसे कहा जाय कि यदि तुम मूर्ति को मस्तक न झुकाओगे तो तुमको तोप से उडा दिया जायगा, तो आप क्या कहेंगे ? स्वामी ने उत्तर दिया था कि मैं कहूंगा कि उडा दो।" दयानन्द इतने निर्भीक थे कि अनेकों मन्दिरों मे ठहरते हुए भी वह वही मूर्तिपूजा की कडी आलोचना करते थे।

स्वामी दयानन्द का निश्चित मत था कि मूर्ति पूजा आर्य जाति की समस्त त्रुटियों का केन्द्र है और वह कभी वेद शास्त्र प्रतिपादित नही है। अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश मे उन्होने मूर्तिपूजा पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये है:—

(१) जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना, अन्यत्र न करना, यह एक ऐसी बात है कि जैसे चक्रवर्ती राजा को एक राज्य की सत्ता से छुडा कर एक छोटी सी झोपड़ी का स्वामी मानना। देखो! यह एक कितना बडा अपमान है, वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो।

(२) जब व्यापक मानते हो, तो वाटिका से पुष्प-पत्र तोड़ कर क्यो चढाते हो? चदन घिस कर क्यो लगाते हो? धूप को जलाकर क्यो देते हो? घटा घडियाल, झाज, पखावजों को लकडी से कूटना-पीटना क्यो करते हो? वह तुम्हारे शिर में है उसे क्यो नमाते हो? अन्न जलादि मे है फिर क्यो नैवेद्य धरते हो? जल मे है स्नान क्यो कराते हो? क्योकि सब पदार्थों में परमात्मा व्यापक है और तुम व्यापक को उपासना करते हो या व्याप्य की, जो व्यापक की करते हो तो पाषाण, लकड़ी आदि पर चदन पुष्पादि क्यो चढाते हो, और व्याप्य को करते हो तो, "हम ईश्वर की पूजा करते है', ऐसा झूठ क्यो बोलते हो? "हम पाषाण के पुजारी हैं," ऐसा सत्य क्यो नही बोलते?

(सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११)।

एक दूसरे स्थल पर मूर्तिपूजा के दोषो को उन्होने निम्न प्रकार गिनाया है:—

(१) साकार मे मन स्थिर कभी नही हो सकता, क्योकि उसको मन झट ग्रहण करके उसी के एक-एक अवयव मे घूमता और दूसरे मे दौड जाता हैं। और निराकार परमात्मा के ग्रहण मे यावत् सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चचल भी नही रहता, किन्तु उसी गुण कर्म स्वभाव का विचार करता-करता, आनन्द मे मग्न होकर स्थिर हो जाता है, और साकार मे होता तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता क्योकि, जगत मे मनुष्य, स्त्री पुत्र, धन, मित्र आदि साकार मे फंसा रहता है, परन्तु किसी मे मन स्थिर नही होता जब तक निराकार में न लगावे, क्योंकि निरवयव होने से उसमे मन स्थिर हो जाता है। इसलिये मूर्तिपूजा करना अधर्म है (२) उसमे करोड़ो रुपये मन्दिरों में व्यय करके दरिद्र होते है और उसमें प्रमाद होता है। (३) स्त्री-पुरुषों का मन्दिरो मे मेला होने से व्यभिचार, लडाई-बखेड़ा और रोगादि उत्पन्न होते हैं। (४) उसी को धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति का साधन मान कर पुरुषार्थ रहित होकर मनुष्य जन्म व्यर्थ गमाता है। (५) नाना प्रकार की विरुद्ध स्वरूप नाम चरित्र युक्त मूर्तियो के पुजारियो का ऐक्यमत नष्ट होकर विरुद्ध मत मे चल कर आपस में फूट वढा कर देश का नाश करते हैं। उसी के भरोसे मे शत्रु का पराजय और अपना विजय मान वैठे रहते हैं। उनका पराजय होकर राज्य स्वातन्त्र्य और धन का सुख उनके शत्रुओ के स्वाधीन होता है और आप पराधीन भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओ के वश मे होकर अनेक विधि दुःख पाते है। (७) जब कोई किसी को कहे कि हम तेरे वैठने के आसन व नाम पर पत्थर धरें तो जैसे वह उस पर क्रोधित होकर मारता वा गाली

देता है, वैसे ही जो परमेश्वर के उपासना के स्थान, हृदय और नाम पर पाषाणादि मूर्तिया धरते हैं, उन दुष्ट बुद्धि वालो का सत्यानाश परमेश्वर क्यो न करे। (८) भ्रान्त होकर मन्दिर मन्दिर देश देशान्तर मे घूमते-घूमते दुःख पाते, धर्म ससार और परमार्थ का काम नष्ट करते, चोरादि से पीडित होते, ठगो से ठगाते रहते है। (९) दुष्ट पुजारियो को धन देते है वे उस धन को वेश्या, परस्त्री गमन, मद्य, मांसाहार, लडाई-बखेड़ो मे व्यय करते है जिससे दाता का सुख का मूल नष्ट होकर दु ख होता है। (१०) माता-पिता आदि माननीयों का अपमान कर पाषाणादि मूर्तियो का मान करके कृतघ्न हो जाते है (११) उन मूर्तियों को कोई तोड डालता वा चोर ले जाता है तब हा हा करके रोते रहते है। (१२) पुजारी परस्त्री के सग और पुजारिन पर पुरुषो के सग से प्रायः दूषित होकर स्त्री पुरुष के प्रेम के आनद को हाथ से खो बैठते हैं। (१३) स्वामी सेवक की आज्ञापालन यथावत् न होने से परस्पर विरुद्धभाव होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते है। (१४) जड़ का ध्यान करने वाले का आत्मा भी जड़-बुद्धि हो जाता है क्योकि ध्येय का जडत्व धर्म अन्त.करण द्वारा आत्मा मे अवश्य आता है। (१५) परमेश्वर ने सुगन्धियुक्त पुष्पादि पदार्थ वायु जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिए बनाये है, उनको पुजारी जी तोड़ तोड़ कर, न जाने उन पुष्पों की कितने दिन तक सुगन्धि आकाश मे चढकर वायु जल की शुद्धि करता है और पूर्ण सुगन्धि के समय तक उसका सुगन्ध होता, उसका नाश मध्य में ही कर देते हैं। पुष्पादि कीच के साथ मिल सडकर उलटा दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं। क्या परमात्मा ने पत्थर पर चढाने के लिए पुष्पादि सुगन्धयुक्त पदार्थ रचे है (१६) पत्थर पर चढे हुए पुष्प चदन और अक्षत आदि सबका जल और

मृतिका के संयोग होने से मोरी वा कुंड में आकर सड़के इतना उस से दुर्गन्ध आकाश मे चढता है कि जितना मनुष्य के मल का और सहस्रो जीव उसमे पड़ते उसी मे मरते और सड़ते है। ऐसे ऐसे अनेक मूर्तिपूजा के करने मे दोष आते है। इसलिये सर्वथा पाषाणादि की मूर्तिपूजा सज्जन लोगो को त्यक्तव्य है। और जिन्होने पाषाणमय मूर्ति की पूजा की है, करते है, और करेंगे, वे पूर्वोक्त दोषो से न बचे न बचते हैं और न बचेंगे।

सम्भव है कि उपर्युक्त सूची को देखकर कुछ पाठक स्वामी दयानन्द पर अत्युक्ति का दोषारोपण करे। परन्तु जिन्हे बड़े बड़े तीर्थ स्थानो और उनके देव मन्दिरो की आंतरिक अवस्था का परिज्ञान है, वे ऐसा कभी न करेंगे। स्वामी दयानन्द ने इस देश के मठ मन्दिरो की आन्तरिक अवस्था को अपनी आँखो देखा था, अतः मूर्तिपूजा से होने वाली जिन हानियो को उन्होने यहाँ गिनाया है उनमे कोई अत्युक्ति नही है। स्वामी जी ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध इतना कहा और लिखा है कि यदि हम उनका सग्रह करने लगें तो एक स्वतत्र ग्रन्थ की रचना हो सकती है, इसलिये हम विस्तार भय से अधिक उद्धरण न देकर पाठको से प्रार्थना करेंगे कि जो इस सम्बन्ध मे जानना चाहे वे स्वामी दयानन्द द्वारा स्वरचित ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' मे देखे। उनके अनेक जीवन वृतान्तो से भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश मिल सकता है।

इस देश मे स्वामी दयानन्द से पूर्व किसी भी आचार्य ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध इतने खुले ढग से कभी आन्दोलन नही किया। और न उससे होने वाली हानियो को इतने स्पष्ट रूप मे सर्वसाधारण के सन्मुख रखने का प्रयत्न किया। शकर और

उनके पश्चात् अनेक सन्त महात्माओं ने भी मूर्तिपूजा का खंडन किया किंतु उनमे वह बल और निर्भीकता न थी जिसे हम स्वामी दयानन्द में देखते हैं. सम्भवतः उन्होने मूर्तिपूजा के विनाशकारी परिणामो पर भली भाँति दृष्टिपात नही किया और उसे केवल एक पूजा भेद समझ कर पाप नही समझा। परिणाम-स्वरूप उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् उनके अनुगामियो ने या तो मूर्तिपूजा से समझौता कर लिया या स्वय उसे किसी न किसी रूप मे अपना लिया।

अशिक्षित हिन्दू आज भी मूर्तिपूजा के उसी प्रपंच मे उलझा हुआ है। सुशिक्षित समाज उससे उदासीन है। उनकी दृष्टि में यदि कोई मूर्तिपूजा करता है तो कोई हानि नही, यदि नही करता तो कोई पाप नही। यदि किसी मन्दिर में पहुँच गये अथवा उसके द्वार पर होकर निकले तो मूर्ति को शिर झुका दिया। अन्यथा मूर्तिपूजा से इनका न कोई विशेष सम्पर्क है और न उसमे इनको काई विशेष आस्था है। यदि किसी मूर्तिपूजक ने मूर्ति को ईश्वर के ध्यान का एक साधन सिद्ध करना चाहा तो उसकी हा मे हा मिलादी और किसी ने उसके विरुद्ध कुछ कहा तो उसे भी स्वीकार कर लिया।

'धर्म किसी जाति वा देश के उत्थान पतन का प्रधान कारण है' यह एक सार्वभौम सिद्धात है जिसे आज या कल सभी को मानना पडेगा। जो लोग पश्चिमी सभ्यता के भौतिक प्रवाह मे वहे जा रहे है, वे भूलते है। धार्मिक उत्थान के कारण ही यह देश ससार का शिरमौर था और धार्मिक पतन ने ही आज इसको अधोगति के गर्त मे ला डाला है।

स्वामी दयानन्द आर्यजाति को इस अधोगति से बाहर निकालना चाहते थे। मूर्तिपूजा, आर्यजाति के पतन का एक मूल कारण है, इस तत्व को स्वामी दयानन्द ने भली प्रकार

समझ लिया था। शिवरात्रि का वोध मानो यह सिद्ध करता है कि उनका जन्म ही मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रचार करने के लिये हुआ था। संसार का प्रत्येक महापुरुष अपना एक विशेष सदेश रखता है। स्वामी दयानन्द का, हमारे विचार मे यही एक सदेश था।

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज इस समय हमारे देश मे एक ऐसी जीवित जागृत सस्था है जो मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रसशनीय कार्य करती रही है। किंतु उसमें भी कुछ समय से साम्प्रदायिक सहिष्णुता तथा राष्ट्रीय एकता के नाम पर खण्डनात्मक प्रवृति को रोकने की भावना वढ़ती जा रही है। मूर्तिपूजा के विरुद्ध अव उसकी वेदी से कुछ अधिक नही कहा जाता। उधर मूर्तिपूजा-पोषक प्रगति अभी अपना कार्य कर ही रही है। ऐसी अवस्था मे आर्यसमाज की शिथिल मनोवृति देश और जाति के लिये घातक ही सिद्ध होगी। यदि सहिष्णुता के नाम पर समझौता करने की भूल की गई तो आर्य समाज भी अन्य सम्प्रदायो की भांति "हिन्दू धर्म" कही जाने वाली अस्त व्यस्त विचारधारा में सदा के लिये विलीन हो जायगा।

महात्मा गांधी इस युग के एक अन्य महापुरुष हैं। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यत: इस देश की राजनीति रहा, परन्तु फिर भी वह समय-समय पर अपने धार्मिक विचार व्यक्त करते रहते थे। इस देश के अनेक सत-महात्माओ के विचारो से महात्माजी के विचार वहुत कुछ प्रवाहित थे और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे प्राचीन वैदिक साहित्य के अध्ययन का विशेष अवसर नही मिला। उनको अपना सस्कृत भाषा का अल्पज्ञान सदा खटकता रहा, इस तथ्य का उन्होंने अपनी आत्मकथा मे दुःख के साथ उल्लेख किया है। सम्भवतः इसी कारण उनके धार्मिक विचार प्राय: अनिश्चित और अस्थिर थे।

महात्मा गांधी की विचार-धारा बहुत से सतों की भाँति, "सब ही धर्म ईश्वर-प्राप्ति के साधन है और ठीक है" रही। अतएव उन्होने कभी किसी विवादास्पद धार्मिक विषय पर अपनी निर्भीक सम्मति नही दी। इस विचार धारा का अनुयायी दे भी नही सकता। इस विचार ने हिंदू-जाति के जीवन पर एक घातक प्रभाव डाला है। जब ससार के साधारण धर्म अपने प्रचार की प्रगति से महान् शक्तिशाली बन गये, हिंदू धर्म (वैदिक धर्म) केवल कूपमडूक ही रहा और वह अपने अमर सदेश को दूसरे देशो तक न पहुँचा सका। बौद्धकाल तक यहाँ के प्रचारक अपने धर्म; सस्कृति और सभ्यता की दुन्दुभी विश्व मे बजाते रहे। उन्होने विश्व को आर्य बनाने की वैदिक लोकोक्ति को नही भुलाया था।

महात्मा जी स्वय मूर्तिपूजक नही थे। और न उसका उस पर विश्वास था, परंतु वह उसे पाप नही समझते थे। जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, उनके धार्मिक विचार अस्थिर थे और समय समय पर बदलते भी रहते थे। इसे उन्होंने अपने वक्तव्यो और लेखो मे स्वय स्वीकार किया है। मूर्तिपूजा पर उन्होने अपनी जो अन्तिम सम्मति प्रकट की हैं, हम अधिक न लिखकर उसे ही लिख देना पर्याप्त समझते है। वह लिखते है —

"एक भाई ने मुझे अखबार की एक कतरन भेजी है। उसमें खबर है कि मेरे नाम का एक मदिर बनवाया गया है। और उसमे मेरी मूर्ति की पूजा की जाती है। इसे मैं मूर्तिपूजा का वेढङ्गा रूप समझता हूँ। जिसने यह मदिर बनवाया है, उसने अपने पैसे बरबाद किये हैं, गाँव के भोले लोगो को गलत रास्ता दिखाया, और मेरे जीवन का गलत खाका खीच कर मेरा अपमान किया। इससे मूर्तिपूजा का अर्थ सिद्ध नही होता, उलटे अनर्थ होता है। अपने गुजारे के लिये या स्वराज्य के लिए यज्ञ

के रूप में कातना ही मेरे विचार में सच्ची पूजा है। तोते की तरह गीता के पारायण करने के बदले उसके उपदेशानुसार आचरण करना सच्ची गीता पूजा है। गीतापाठ भी उसी हद तक मुनासिब समझा जायगा जिस हद तक वह गीता के उपदेश के अनुसार आचरण करने में मददगार हो। मनुष्य की कमजोरी का नही, बल्कि उसके गुणों का अनुकरण ही उसकी सच्ची पूजा है। जिन्दा आदमी की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने से हम हिन्दू धर्म को पतन की आखिरी सीमा तक पहुचा देते हैं। .... सच तो यह है कि अकेला ईश्वर ही मनुष्य के हृदय को जानता है। इसलिये किसी जिन्दा या मरे हुए आदमी को पूजने के बदले जो, पूर्ण है और सत्य स्वरूप है, उस ईश्वर को पूजने और उसी का भजन करने मे सुरक्षितता है। यहां यह ख्याल जरूर उठ सकता है कि फोटो रखना भी पूजा का एक प्रकार है या नही ? फोटो रखने का रिवाज भी खर्चीला तो है मगर उसे निर्दोष समझ कर मैं उसको अब तक बरदाश्त करता आया हू। अगर उसकी वजह से मैं प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रीति से मूर्तिपूजा को तनिक भी बढ़ावा देता हूँ तो उसे हास्यास्पद और हानिकारक समझ कर छोड दूंगा। मंदिर के मालिक मूर्ति को हटाकर उस मकान मे खादी का केन्द्र खोले तो वह सब तरह इष्ट होगा और फिलहाल जो पाप यह कर रहे हैं उससे बच जायेंगे। उस मकान मे गरीब लोग मजदूरी के लिये धुने और काते, दूसरे यज्ञ के लिये धुने और काते। सब खादी पहिनने लगें। यही गीता का कर्मयोग है। जीवन में इसका आचरण करने से गीता की और मेरी सच्ची पूजा की जा सकेगी। ऐसी पूजा हानिकारक है और इसलिये छोड़ने लायक है।"

महात्मा जी योरुप के अनेक विचारकों की भाँति रामायण और महाभारत को ऐतिहासिक ग्रन्थ नही मानते थे तथा राम

और कृष्ण के व्यक्ति विशेष होने पर भी उनका विश्वास नही था। अवतारवाद पर जो विचार उन्होने व्यक्त किये है उन्हे यहाँ दे देना असगत न होगा। महात्मा जी ने अपने गीता-भाष्य में लिखा है —

"गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान है परन्तु काल्पनिक है"। "जो पुरुप अपने युग मे सबसे श्रेष्ठ धर्मवान् होता है, उसी को भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है।" इसी प्रकार वह अन्यत्र लिखते है—"ईश्वर निश्चित रूप से एक है, वह अद्वितीय है। वह अथाह और अगोचर है। मनुष्यों का अधिक भाग उसको नही जान सका। वह सर्वव्यापक है, नेत्रो के बिना देखता और कानो के बिना सुनता है। निराकार, निरवयव है। वह अजन्मा है। उसका कोई पिता, माता या पुत्र नही है, तो भी लोग उसे पिता, माता, स्त्री और पुत्र बना कर पूजते है। तथापि वह उनमे से कोई वस्तु नही है।"

(यग इण्डिया, २५ सितम्बर सन १९२४ ई०)

"हम राम के गुण गाते है, वह बाल्मीकि के राम नही। तुलसी-रामायण के भी राम नही है।...असह्य दु.ख से दुखी मनुष्य से मैं कहता हूँ कि राम नाम लो...लेकिन यह राम तो दशरथ के पुत्र, सीता के पति नही, यह देहधारी राम नही हो सकते। जो हमारे हृदय मे बसते हैं, वह राम देह धारी राम नही हो सकते।" (प्रताप, लाहौर १० अप्रैल सन १९२८)

यह सब कुछ मानते हुये भी, उन्हे अपनी प्रार्थनाओ मे, "रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीताराम' का कीर्तन करने में विशेष आनन्द आता था। राम के साथ 'रघुपति' 'राघव' 'सीता' आदि विशेषणो की सङ्गति लगाना विचारशील पुरुषो के लिये एक पहेली ही बनी हुई है। जनसाधारण आज भी उनके राम को रामायण का ही राम समझता है। महात्मा गाँधी

का वाल्यकाल से तुलसीकृत रामायण का पठन पाठन रहा और उनके वही सस्कार कभी-कभी वुद्धि-वाह्य होने पर भी अटल रहे।

मूर्ति पूजा का किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ, यदि आप इसका तात्कालिक उदाहरण देखना चाहते है तो देहली स्थित राजघाट मे महात्मा गाधी की समाधि को जाकर देखे। महात्माजी की समाधि पर, जहां उनकी कुछ अस्थियो के ऊपर एक चौकोन चवूतरा वना दिया गया है, नित्य पुष्प, पुष्पमालायें और रुपये पैसे चढाये जाते है। इस समाधि के एक ओर उससे लगा हुआ महात्मा जी का ताम्रचित्र रक्खा है जिस पर, समाधि की भाँति पुष्प, रुपये-पैसे ठीक उसी प्रकार चढाये जाते है, जैसे लोग मूर्तियो पर चढाते है। समाधि और ताम्रचित्र के सन्मुख लोग न केवल हाथ जोडकर शिर झुकाते हैं अपितु आप उन्हे साष्टाँग दंडवत करते हुए भी देखेगे। वहाँ मन्दिरो की भाति एक पुजारो भो रहता है जो चित्र के फूलो से ढक जाने पर उन्हे उसके ऊपर हटाकर दूसरे दर्शको को मूकभाव से फूल चढाने के लिये आह्वान करता रहता है। गाधी जयन्ती पर तो गाँधोजो की एक विशालकाय मूर्ति तक उस समाधि पर रखदी जाती है, और उसकी भी पूजा की जाती है। स्थान स्थान पर ऐसी ही समाधि, मूर्ति, एव मदिरो की स्थापना हो रही है। और यह असम्भव नही है कि गाधी जी की, महात्मा बुद्ध की भांति, उनकी सुस्पष्ट आज्ञा और इच्छा के विरुद्ध, कही मूर्तिपूजा न चल पडे। हमारे देश के वडे वडे गाँधी-भक्त नेता आज इसे रोकने के स्थान पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दे रहे है। वे समझते हैं कि इससे गाधी जी के प्रति लोगो की भक्ति भावना जागृत होगी और लोग उनका अनुकरण करेगे, किन्तु मूर्तिपूजा का इतिहास वताता है कि उनकी यह धारणा दुराशामात्र ही रहेगी।

सिन्धु घाटी की सभ्यता और मूर्तिपूजा

पुरातत्व विभाग द्वारा भारतवर्ष मे अनेक खुदाई हुई है और होती रहती है। अनेक नगरो और स्थानों की खुदाई मे कही कही मूर्तिया भी मिलती हैं। इन मूर्तियो को देख प्राय: मूर्तिपूजा के समर्थक प्राचीन भारत मे मूर्तिपूजा का प्रचलन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु सिन्धु-घाटी मे हडप्पा और मोहनजोदडो की खुदाई के अतिरिक्त जितनी मूर्तियाँ अब तक प्राप्त हुई है वे सभी पुरातत्व-विभाग विशेषज्ञो एव ऐतिहासिको द्वारा बौद्ध और उत्तर बौद्ध कालीन मानी जाती है। किन्तु सिन्धु घाटी की सभ्यता पाच हजार वर्ष पुरानी आँकी जाती है। हाल मे सौराष्ट्र के रगपुर की खुदाई से यह सिद्ध हुआ है कि इस सभ्यता के चिन्ह केवल सिन्धु घाटी ही मे नही अपितु दक्षिण मे सौराष्ट्र तक प्राप्त होते हैं हडप्पा और मोहनजोदडो मे कुछ मूर्ति और मुद्राऐ मिली है। मूर्तियो मे स्त्री-पुरुष की मिट्टी की मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ शिवलिंग आकृति की मूर्तियाँ भी हैं। साथ ही मोहनजोदडो मे जो मुद्राए प्राप्त हुई हैं उन पर जो आकृतियाँ बनी हुई है उनका सम्बन्ध भी पशु-पति आदि देवो से जोडा जाता है। जहां तक "शिव-लिङ्गमूर्ति" का सम्बन्ध है जब तक यह वस्तुएं किन्ही शिवालय अथवा पूजा स्थान मे प्राप्त न हो, यह पीसने और रगडने के कार्य मे आने वाले पत्थर के खरल बट्टे जिनकी आकृति आजभी इस देश मे लिङ्ग योनि जैसी होती है, क्यो नही हो सकते? मुद्राओ पर जो आकृतियाँ अकित हैं, वे इस देश की देवी देवताओ से नही मिलती। तब उनके आधार पर ५००० वर्ष पूर्व इस देश मे मूर्ति-पूजा का प्रचलन सिद्ध करना केवल कल्पना मात्र है।

आइए अब उन तथ्यों पर जिन पर इन नगरो की खुदाई कराने वाले मि० जोन मार्शल पहुचे हैं विचार करे। मार्शल का मत है कि यह सभ्यता आर्यो के इस देश में आगमन के पूर्व की सभ्यता है जो उनके आक्रमण से नष्ट भ्रष्ट हो गई। जोन मार्शल मैके तथा उनके अनुगामी पुरातत्व अन्वेषक एव ऐतिहासिको का इस बात मे एक मत है कि यह सभ्यता 'मैसोपोटामियाँ' की सुमेरियन सभ्यता से बहुत मिलती जुलती है। इन स्थानो पर प्राप्त नर-मूर्तियो की आकृति उनके वस्त्र पहिनने के ढंग, आभूषण, मिट्टी के पात्र तथा मुद्राऐं सभी मैसोपोटामियाँ की सुमेरियन सभ्यता जैसी हैं। मूर्तियों को खण्डश: बनाने की विधि जिनका प्रयोग हड़प्पा मूर्तियो में किया गया है, भारतीय मूर्ति कला मे अज्ञात है। परन्तु इसके उदाहरण मैसोपोटामियाँ के दो प्राचीन खंडहरो में मिले हैं:—यह मूर्तियाँ भी खण्डश: बनाई गई थी। मोहनजोदाडो मे प्राप्त एक नर-मूर्ति महत्वपूर्ण है। इसकी गोल छोटी दाढी, ऊपर का होंठ साफ मुंडा हुआ है। माथे पर शिर के बालों को यथा स्थान रखने के लिए छोटी पट्टी बँधी हुई है। यह बाऐ कन्धे और दाहिनी बगल में होता हुआ शरीर पर एक वस्त्र ओढे हुए है जिस पर तिपत्ती मिट्टी के बूटे हैं। इसी प्रकार के बूटे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की अन्य वस्तुओ पर भी अकित है, जो मैसोपोटामिया मे उर नाम के प्राचीन खण्डहर में भी पाए गए हैं, जो अनुमानत: ईसा पूर्व ३००० वर्ष पुराने हैं।

मिट्टी की स्त्री मूर्ति केवल एक कटि वस्त्र पहिने हुए है जिसकी तुलना भी सुमेरियन स्त्रियो के 'कौनक' कटि वस्त्र से की जा सकती है। मुद्राओ पर अङ्कित देव मूर्तियां और लिपि भी मैसोपोटामियां की सुमेरियन जाति की देव मूर्तियो और लिपियो मे बहुत समानता रखती है, जिनका वर्णन उनके कथानकों मे

मिलता है। यह देव मूर्तियाँ भारतीय किसी भी देव-मूर्ति के तुल्य नही है।

इस प्रकार अब केवल विचारणीय विषय यह रह जाता है कि यह सभ्यता जो मैसोपोटामियाँ आदि की सभ्यता से मिलती जुलती है भारत से वहाँ गई, जैसा कि मार्शल आदि का मत है, अथवा भारत मे वहाँ से आई। जिन विद्वानो और ऐतिहासिकों का यह मत है कि आर्य यही के निवासी है, बाहर से आकर यहाँ नही बसे उनके मतानुसार सिन्धु घाटी की सभ्यता विदेशी सभ्यता ही हो सकती है, और यह मानने मे कि वह विदेशो से यहाँ आई, कोई बाधा उपस्थित नही होती। इसका एक प्रबल प्रमाण सिकन्दर के राजदूत मेगास्थनेस के लेखो से प्राप्त होता है—

The men of greatest learning among the Indians tell certain legends.

"...........They relate that in the most primitive times, when people of the country were still living in villages, Diomysos made his appearance coming from the regions lying to the west, and at the head of a considerable army. He overran the whole of India ....He was besides, the founder of large cities...........after reigning over the whole of India for two and fifty years he died of old age...........At last, after many generations had come and gone, the sovereignty, it is said, was dissolved, and democratic governments were set up in the cities......

..............and their city Nyas, which Dionysos had founded.

The Nysaioi, however, are not an Indian race, but descendants of those who came into India with Dionysos.................

Father Bacchus..............was the first of all who triumphed over the vanquished Indians. They further called the Oxydrakai descendants of Dionysos, because the vine grew in their country. Tombs are plain, and the mounds raised over the head lowly."

अर्थात्–भारतीय विद्वानों की परम्परा के अनुसार दानवासुर पश्चिम से (India) सिन्धु में आया। उसने सारा सिन्धु विजय किया। वह बडे बडे नगरो का निर्माता था। नैश नगर उसी का निर्मित है। नैश के वासी भारतीय नही है, दानवासुर के वशज हैं क्षुद्रक लोग भी दानवासुर के वशज है। उनके देश मे अंगूर (द्राक्षा) उगती थी। .... क्षुद्रको की कबरें साफ और नीची होती हैं।............दानवासुर के अनेक पीढी पश्चात् एक राजा का राज्य हट कर अनेक नगरों मे गण राज्य स्थापित हुए।

टिप्पणी—पुराने यवन सिन्धु और पञ्जाव को India अथवा सिन्धु प्रदेश कहते थे। शनै. शनैः यह शब्द समस्त भारत के लिये प्रयुक्त होने लगा। पञ्जाव और सिन्धु की अनेक जातिया असुरो के वशो मे हैं। (भारतवर्ष का वृहद् इतिहास-(प० भगवद्दत्त वी.ए.)

अतः सिन्धु-घाटी मे प्राप्त शिव लिङ्ग—यदि उसे वास्तव मे शिव लिङ्ग कहा जा सकता है—तथा मुद्राओं पर अंकित देव

मूर्तियाँ विदेशियो की देव मूर्तियां है, जिन्हे वे अपनी सभ्यता के साथ इस देश मे लाए, भारतीय नही। शिव लिंग पूजा भी अभारतीय ही है। अफ्रीका के एक भाग मे अब भी एक शिवालय है, जहा शिव-लिङ्ग स्थापित है। अरब देशो मे इस्लाम से पूव शिव-लिङ्ग पूजा प्रचलित थी।

आश्चय यह है कि मूर्ति-पूजा-समर्थक, मूर्ति-पूजा की प्राचीनता सिद्ध करने की धुन मे आर्यो का विदेशो से आगमन मानकर अपनी प्राचीन सभ्यता और सस्कृति पर कुठाराघात होना कैसे सहन कर लेते है ? सिन्धु घाटी की सभ्यता पाँच हजार वर्ष पुरानी मानी जाती है, जो भारतीय धार्मिक इतिहास के अनुसार महाभारत काल के लगभग तक पहुँचती है। तब क्या आर्य—सस्कृति का प्रादुर्भाव महाभारत के समय से ही माना जाय ? तव क्या 'राम'—जिनकी मूर्ति को विष्णु अवतार मानकर पूजा की जाती है अनार्य थे ? अथवा राम का समय महाभारत के पश्चात् माना जाय ? दुःख है कि पाश्चात्यो के इस मिथ्या प्रचार का कि हमारे आर्य-पूर्वज विदेशी आक्रमण-कारी थे, यहा के मूल निवासी नही, का हम भी अनुकरण करते हैं। हम आज भी नही समझ पा रहे हैं कि उनकी इस कुटिल नीति ने इन देश मे क्या उत्पात खड़े किए हैं, और कितना विषैला वातावरण उत्पन्न कर दिया है। भील, कोल, नागा आदि वन जातिया ही नही द्रविड़, एव हिंदुओ की परिगणित जातिया भी अपने को यहा का मूल निवासी बताते है और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ग को विदेशी आक्रमणकारी कह कर घृणा की दृष्टि से देखने लगे है। आवश्यकता इस बात की है कि अब भारतीय इतिहास के उन पृष्ठो को—जिनमे आर्यो को अभारतीय बताया गया है—फाड़ फेंका जाय, इसी मे हमारा कल्याण है।

वेदों में मूर्ति पूजा की भ्रान्ति

वहुत से पाश्चात्य एवं उनके अनुगामी भारतीय विद्वान कुछ वेद-मन्त्रो को लेकर उनमें मूर्ति पूजा का मूल खोज निकालने का प्रयत्न करते हैं। मूर्ति-पूजा के समर्थक पौराणिक पण्डित भी वेदों के ऐसे ही मन्त्रो को अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए प्रायः प्रस्तुत किया करते है। ऐसे ही कुछ प्रसिद्ध वेद-मन्त्रों पर यहां विवेचन किया जाता है। वास्तविकता यह है कि यह लोग या तो वेदार्थ शैली से अनभिज्ञ होने के कारण ऐसे अर्थ करते है अथवा ऐसा करने में उनका पक्षपात और स्वार्थ निहित होता है अन्यथा जैसा कि अन्यत्र सिद्ध किया जा चुका है वेद निराकार एवं अमूर्त ईश्वरोपासाना का ही प्रतिपादन करते हैं, वेदों पर जितने भी उव्वट से सायण तक भारतीय भाष्य उपलब्ध हैं, किसी ने भी इनके मूर्ति पूजा परक अर्थ नही किये। चाहे किन्ही भाष्यों से बहु-देवतावाद की गन्ध आती हो किन्तु मूर्ति पूजा का इनमे सर्वथा अभाव ही है।

पहले हम उन पाश्चात्य तथा उनका अनुकरण करने वाले भारतीय विद्वानो द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले ऋग्वेद के प्रसिद्ध दो मन्त्र जिनसे वेदो में 'लिग-पूजा'—जिससे उनका तात्पर्य इस देश मे प्रचलित शिव-लिग पूजा से हैं–को सिद्ध करना है, लेते है।

"न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभि।
न शर्धदर्यो कि विपुणस्य जन्तोर्मा शिश्न देवा अपि गुरृ तन.॥"

(ऋग्वेद) ७।२१।५

इस मन्त्र में आए—"मा शिश्न देवा अपि गुरृ तंनः" इसकी

व्याख्या यास्काचार्य ने निरुक्त नैगम काड ४।३।४५ मे निम्न प्रकार की है·—

—"म शिश्न देवा:" —अ ब्रह्मचर्या· शिश्नमृश्नथते: ।

अपिगु: ऋतं न सत्य वा यज्ञ ं वा । अर्थात् कामीजन हमारे यज्ञ मे न आये । शिश्न से क्रीडा करने वालो को 'शिश्नदेव' कहा गया है (निरुक्त प्रदीप पूर्वार्ध पृष्ठ २८२) ।

सायणाचार्य ने शिश्नदेव का अर्थ भो—'अथच शिश्नदेवा: शिश्नेन दीव्यन्ति क्रीडन्त इति शिश्नदेवा अब्रह्मचर्या इ-यर्थ । अर्थ।त् जो लोग लिंग से खेलते है वे अब्रह्मचारी है,—किया है ।

स वाज यातापदुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परिषदत्स निष्यन् ।
अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छि श्नदेवा अभिवर्पसा भूत् ।।
(ऋग्वेद १०।९९।३)

इस पर भी सायणाचार्य ने "शिश्नदेवान् अब्रह्मचर्यान् शत्रु पुर सम्बन्धिषु वर्त्तमानान् घ्नन् हिंसन्" -अर्थात् लिंग जन्य कामनाओ को मारकर शान्ति लाभ करता है इत्यादि भाष्य किया है।

उपर्यु क्त दोनो ही मन्त्रो मे "शिश्नदेवा:" का अर्थ कामी एव अब्रह्मचारी ही है । इससे लिग पूजा किसो प्रकार सिद्ध नही है । अतएव इन विद्वानो की यह कल्पना कि वेदो मे लिंग पूजा है सर्वथा भ्रान्त और निराधार है ।

अव उन मन्त्रो पर, जो प्राय: मूर्ति-पूजा के पोषक पौराणिक विद्वानो द्वारा मूर्ति पूजा के पक्ष मे प्रस्तुत किए जाते हैं, यहां क्रमश सक्षेप मे विचार करते हैं:—

'सहस्रस्य प्रमा असि ,सहस्रस्य प्रतिमा असि ।
सहस्रस्योन्मासि । सहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ।।

इस मत्र में प्रतिमा शब्द मूर्ति के लिए नही अपितु माप के लिए प्रयुक्त हुआ है। महीधर का निम्नार्थ इसकी पुष्टि करता है :—

'हे अग्ने ! सहस्रस्येष्टकाना प्रमा प्रमाणं त्वमसि। सहस्रस्य प्रतिमा प्रतिनिधिरसि। सहस्रस्योन्मान।

तुलासि। 'अर्थात् हे अग्निदेव ! तू सहस्र ईंटों का प्रमा प्रमाण है। सहस्र ईंटो की तू प्रतिनिधि है। सहस्र ईंटो का तू नपना है।

'संवत्सरस्य प्रतिमां या त्वा रात्र्युपास्महे।
सान आयुष्मती प्रजा रायस्पोषेण संसृज।

—अर्थात् हे रात्रि ! हम तेरी उपासना करते हैं—तेरा सेवन करते हैं—भले प्रकार सोते हैं। यह रात्रि क्या है ? सवत्सर–वर्ष का माप है। दिन और रात्रि से ही वर्ष नापा जाता है। इसलिए रात्रि को सवत्सर का माप कहा गया है। इस पारस्कार गृह्यसूत्र-कार लिखता है।

'यां जना. प्रतिनन्दन्ति रात्रि धेनु निवायती संवत्सरस्य यापन्ति नानो अस्तु सुमगली स्वाहा। सवत्सरस्य प्रति माया—

—ता ग्व रात्रि मुपास्महे। सवत्सराय परिवत्सरोयदावत्स-रायेद्वत्सरायकृणुतावृहन्नम:'—अर्थात् जिस रात्रि मे मनुष्य आनन्द मनाते है। रात्रि गौ के समान दूध देने वाली है, जो सवत्सर की प्रतिमा—नापने का साधन है, ऐसी रात्रि की हम उपासना करते है—सेवन करते है, इत्यादि।

कासीत्प्रमा प्रतिमा कि निदान माज्य किमा सीत परिधि क आसीत् छन्द: किमासीत् प्रउगं किमुक्थ यद्देवा देवम् जयन्त विश्वे॥

इस मत्र से भी प्रतिमा शब्द मूर्ति अर्थ मे सिद्ध नही होता।

इसके भाष्य मे सायणाचार्य कहते है—

तदानी तस्य यज्ञस्य प्रमा प्रमाण इयन्ता का कथभूतासीत् ! तथा प्रतिमा हवि. प्रतियोगित्वेन मीयते निर्मीयत इति प्रतिमा देवता सा वा नस्य यज्ञस्य कासीत् ।

यहाँ पर प्रतिमा का अर्थ सायण ने यज्ञ का हविः स्थानीय प्रतिनिधि पदार्थ माना है, सत्यार्थ की दृष्टि से यह मत्र यही वतलाता है कि सृष्टि रचना रूप यज्ञ का नपना परिधि और हविः आदि क्या थे , यह प्रश्न किया गया है ।

उपर्युक्त मन्त्र मे प्रतिमा शब्द को लेकर मूर्तिपूजा की कल्पना की जाती है । अमर कोप मे प्रतिमान, प्रतिबिम्ब, प्रतिमा, प्रतियातना, प्रतिच्छाया, प्रति-कृति, अर्चा प्रतिनिधि, यह आठ नाम प्रतिमा के दिये हैं। मनुस्मृति मे 'प्रतिमान्' का अर्थ तौलने के वाटो का किया है :—

तुलामान प्रतिमान सर्वंच स्यात् सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥

(मनु० ८ ।४०३॥)

अर्थात् तुला की तौल और मानो को अच्छे प्रकार देखे, और छ छ महीने मे जांच कराता रहे ।

उपर्युक्त प्रमाणो से सिद्ध है कि प्रतिमा का अर्थ केवल मूर्ति ही नही है, और इन मन्त्रो मे यही अर्थ सगत हैं ।

त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धि प्रतिवेदनम् उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुत ॥ (यजु० ३।६०)

'त्र्यम्बक' शब्द के अर्थं सायणाचार्यं निम्न प्रकार करते हैं—

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्राणां अम्बकं पितर यजामहे ।

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का जो पिता है उसका हम

यजन करते है। कात्यायन जी कहते है—अग्निः त्रिपर्यग्ति, ५। १०। १५। इस मन्त्र से अग्नि की तीन परिक्रमा करती है।

सोम सूर्याग्निकामत्मकानि लोचनानि यस्य स त्रिलोचनः

(कैवल्योपनिषद दीपिका टीका पृ० ७१४)

अर्थात् सोम, सूर्य और अग्नि ये तीन नेत्र वाला।

इनके प्रमाणों से 'त्र्यम्बक' का अर्थ यहां तीन नेत्र वाला शिव सिद्ध नही होता। इस मन्त्र का युक्ति युक्त अर्थ इस प्रकार है—[सुन्दर पालन शक्ति देने वाले ईश्वर की हम उपासना करते हैं, जिससे हम डंठल से खरबूजे के समान इम लोक बन्धन से छूट जाँय, मोक्ष से नही।]

याते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि॥

(यजु० १६। २॥)

इस मन्त्र मे गिरिशन्तः का अर्थ महीधर ने निम्न किया है—

गिरिपाचि स्थितः शन्तिनोति विस्तारयति गिरिशन्त.।
वा गिरौमेवे स्थितो वृष्टि द्वारेण शन्तनोति गिरिशन्तः॥

अर्थात् वाणी में स्थित होकर शान्ति का विस्तार करे। अथवा मेघ मे स्थित होकर कल्याण का प्रसार करे। वह 'गिरिशन्तः' है। यहाँ पर्वत पर रहने वाले शिव का अर्थ लगाना सर्वथा असंगत और प्रकरण विरुद्ध है।

श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्या वहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणिरूप
मश्विनोव्यात्तम्। इष्णन्निपाणामु म इपाण सर्वं लोकं म ऽइपाण॥

(यजु० १। २२।)

महीधर ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है —

श्री लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ । जायास्था नीयेत्व दृश्ये इत्यर्थ । यथा सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः सपदित्यर्थः । यथा लक्ष्यते दृश्यते जनै सा लक्ष्मी. । सौन्दर्य मित्यर्थः ।

अर्थात् श्री और लक्ष्मी आपकी पत्निया हैं । पत्नी के समान आपके वश मे है, यह अर्थ है । जिसका सब जनता आश्रय लेती है वह श्री सम्पत्ति यह अर्थ है । जिसे लोग देखते हैं वह लक्ष्मी—सौन्दर्य, यह अर्थ है ।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का निम्नार्थ किया है :—

हे जगदीश्वर आपकी सामग्री शोभा और सब एश्वर्य भी दो स्त्रियों के तुल्य वर्त्तमान है ।

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।
कृण्ण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥
(अथर्व० २।१३।४)

इस मन्त्र को मूर्ति मे प्राण प्रतिष्ठा करने में लगाया जाता है परन्तु यहाँ उपनयन सस्कार के समय का वर्णन है । इस पर सायणाचार्य लिखते हैं--

हे माणवक ! एहि आगच्छ । अश्मानम् आतिष्ठ दक्षिणेन पादेन क्रम । ते तव तनू शरीर अश्मा भवतु । अश्मावत् रोगादिविनिर्मुक्तं दृढ भवतु । विश्वेदेवाश्च ते शत सवत्सर—परिमितम् आयुः कृण्वन्तु कुर्वन्तु—अर्थात् हे माणवक छात्र ! आओ पत्थर को दाहिने पाव से क्रमण करो ।

तुम्हारा शरीर सब तरह रोगादि से रहित दृढ़ हो । समस्त देव गण तुम्हारी आयु का सौ वर्ष परिमित करें ।

...इस मत्र मे प्राण प्रतिष्ठा की गध मात्र भी नही है ।

नील ग्रीवाः शितिकण्ठा दिव ग्व रुद्राऽउपश्रिताः ।
तेषा ग्व सहस्रयोजनेऽव धन्वानि...तन्मसि ॥ (यजु० १६।५६)

इस मंत्र में नील ग्रीव शिव का वर्णन बताया जाता है परन्तु उव्वट इसकी टीका करते हुए लिखते हैं—

"नीलग्रीवाः द्युस्थाना उच्यन्ते"। अर्थात् नीलग्रीव द्यो स्थान मे रहते हैं, ऐसा कहा जाता है।

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः ।।उतैनं गोपाऽअदृश्रन्न-दृश्रन्नुदहार्यः सदृष्टो मृडयाति नः ।। (यजु० १६।७।)

इस पर नीलग्रीव का अर्थ उव्वट ने निम्न प्रकार किया है—

असौच आदित्यः अवसर्पति अर्वाचीनं सर्पति गच्छति अस्त मय काले नीलग्रीवास्त गच्छन् लक्ष्यते।

अर्थात् जब सूर्य पश्चिम दिशा में जाकर छिपता है तब नील गर्दन वाला सा दिखाई पड़ता है, अतः नीलग्रीव है।

उपर्युक्त दोनो मन्त्रो मे अस्त होने वाले सूर्य को नीलग्रीव कहा गया है।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्ङ् जनास्तिष्ठति विश्वतोमुखः
(यजु० २।३४।)

इस पर उव्वट का भाष्य—एष एव देव प्रदिश दिशाश्च. सर्वाअनु व्याप्य वर्तन्ते तिर्यगूर्ध्वमधश्चेति। पूर्वो हजातः अनादि निधनः सम्भूतः स उ गर्भे अन्त स एव च मातुरुदरे अन्तर्गर्भे व्यवतिष्ठते स एव जात. स जनिष्यमाणः। तदुक्तं सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेति प्रतिपदार्थं मन्त्रस.। हे जनाः तिष्ठति सर्वतो मुखः सर्वतोऽक्षिशिरोग्रीव पाणिपाद तिष्ठति। अचिन्त्यशक्तिरित्यर्थः।

अर्थात् यह देव—परमात्मा प्रदिशाओ और सारी दिशाओं को व्याप्त करके स्थित है। तिरछे ऊपर नीचे भी। वह पूर्वजात

-अनादि निधन है । वही माता के गर्भ में भी व्यवस्थित —(व्यवस्था के साथ स्थित) है । वही जात पैदा और जनिष्यमाण (पैदा होने वाला पदार्थ हैं । कहा भी है –

सब कुछ यह ब्रह्म ही है । उससे ही जीव पैदा होते है । उससे ही जीव भय को प्राप्त होते है । और उससे ही जीवित होते है । ऐसा जन शान्त हुआ प्रत्येक पदार्थ से उपासना करे ।

हे लोगो ! वह सब ओर आँख, शिर, ग्रीवा और हाथ पैर वाला स्थित है । अर्थात अचिन्त्य शक्ति है ।

इस मन्त्र से ईश्वर का गर्भ में आना और अवतार लेना सर्वथा असिद्ध है । परमात्मा सर्व व्यापक होने से माता के गर्भ मे भी स्थित है ।

इद विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम ।
समूढमस्य पा ग्व सुरे स्वाहा ।। (यजु० ५।१५)

इस मन्त्र पर यास्काचार्य का भाष्य इस प्रकार है –

अथ यद्विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नो तेर्वा । तस्यैषा भवति "इद विष्णुर्विचक्रमे" यदिद कञ्चि तद्विक्रमते विष्णु त्रिधा निधत्ते पदं पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणि: , समारोहणे विष्णुपदे गयशिर सीत्यौर्णवाभ । समूढमस्य पासुरे ऽप्यायने अन्तरिक्षे पद न दृश्यते, अपि वोपमार्थे स्यात्, समूढमस्य पासुल इव पदं न दृश्यते, इति

निरुक्तदैवत ।। १२ । २ । १२ ।।

अर्थात् जिस लिए किरणों से व्यापक होता है अत: विष्णु कहते हैं । किरणो से प्रविष्ट होता है, इस लिए भी विष्णु कहते हैं । सर्वत्र रश्मियों द्वारा प्रविष्ट होता है, इसलिए भी विष्णु कहते हैं ।

जो ऐसा कार्य करे वह विष्णु । अर्थात् सूर्य तीन प्रकार से पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश मे अपने पद (किरण) डालता है ।

ऐसा शाकपूणि आचार्य का मत है । और्णवाभ आचार्य ने तीनो पदो को प्रात: मध्याह्न और अस्त समय की सूर्य किरणे माना है । इस सूर्य की जो विद्युत नाम की किरण है वह आकाश मे अदृश्य हैं जिस प्रकार रेतीली भूमि पर पैरो के निशान दिखलाई नही देते (दुर्गाचार्य)

महीधर ने तीन पदो की व्याख्या अग्नि, वायु और सूर्य रूप से की है, और विष्णु से परमात्मा का अर्थ ग्रहण किया है ।

जिस प्रकार रेतीली भूमि पर रखा हुआ पैर का निशान दिखाई नही देता, उसी प्रकार पुण्य न करने वालों को उस परमात्मा का साक्षात्कार नही होता ।

उव्वट ने भी इसी से मिलता जुलता अर्थ किया है ।

उनके विचार से पद का अर्थ है जिसके द्वारा ज्ञान हो । विष्णु ने भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक मे अग्नि, वायु और सूर्य रूप से अपने पद रखे । अर्थात् तीनो लोकों में विद्यमान इन तीन शक्तियो से परमात्मा का ज्ञान (अनुमान) किया जा सकता है ।

सायण ने इसी मन्त्र पर ऐतेरेय ब्राह्मण में दी हुई एक आख्यायिका का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

"इन्द्र ने युद्ध में हारे हुए असुरों से संधि की यह शर्त रखी कि यह विष्णु तीन पदो मे जितनी वस्तुऐं नाप लें, वहाँ हमारा और शेष पर तुम्हारा साम्राज्य रहेगा । असुरो के सहमत हो जाने पर विष्णु ने पहले पैर से दोनो लोक (आकाश और पृथ्वी)

दूसरे से वेद और तीसरे से वाणी को नाप लिया ।

इस आख्यायिका का सम्बन्ध कुछ विद्वान पुराणों मे वर्णित वामनावतार की कथा से जोडने का प्रयत्न करते है। यह कथा पुराण की कथा से सर्वथा भिन्न हैं। क्योकि पुराणो के अनुसार विष्णु ने वामन वनकर तीन चरणो से तीनों लोक नापे थे।

मत्र में इस प्रकार की कथा का लेश मात्र भी सकेत नही है, और न कही वामन शब्द ही आया है।

सत्यव्रत सामश्रमी ने सायण के पुराण सम्मत व्याख्यान को वैदिक लोगो के लिये अनादरणीय बताया है, क्योकि यास्क ने ऐसा नही लिखा और वेद मे कही अवतार शब्द के दर्शन नही होते ।

मल्व विभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधन तितिक्षु. ।
वराहेण पृथिवी सविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय ।।
(अथ० १२ । १ । ४८)

इस मंत्र का वास्तविक अर्थ यह है, धारण सामर्थ्य से युक्त वहुतो का धारण करने वाली एव पुण्यात्मा और पापी सबको सहन करने वाली पृथ्वी, मेघ से सब कुछ प्राप्त करती हुई सुन्दर किरणो वाले सूर्य को प्राप्त होती है। "अर्थात् यह पृथ्वी सूर्य की आकर्षण शक्ति से कार्य करती है। निरुक्ताकार ने वराह शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—

"वराहो मेघो भवति । वराहार:" "वरमाहार माहार्षी", इति च ब्राह्मणम्" । "विध्यद्वराह तिरोऽद्रिमस्ता" इत्यपि निगमो भवति अयम पीतरो वराह एतस्मादेव । वृहति मूलानि वरं वरं मूल वृहती तिवा । वराह मिन्द्रएमुषम्" इत्यपि निगमो भवति ।।

वराह मेघ होता है, क्योंकि वह वर अर्थात् जल का आहार करता है।

इसी अर्थ की दृष्टि से ब्राह्मण में मेघ के विषय में लिखा है कि उसने जल रूप आहार को ग्रहण किया है। विद्युत वराह नाम के ग्रन्थ में भी 'मेघ को भेदते हुए' यह अर्थ है, दूसरा वराह शब्द भी इसीलिए शूकर के अर्थ में प्रयुक्त होता है, क्योंकि वह अच्छी अच्छी जड़ों का आहार करता है। इस मत्र में वराह अवतार किसी भी प्रकार सिद्ध नही होता है।

कृष्ण शब्द वेदों के अनेक मंत्र में आया है। परन्तु उसका कृष्णावतार से दूर का भी सम्बन्ध नही है। इन मत्रो में उसका प्रयोग प्रायः काला रग, आकर्षक, काला बादल आदि अनेक अर्थों में हुआ है ऐसे कुछ मन्त्रांश यहाँ दिये जाते है :—

त्वे अग्ने सुमति कृष्ण वर्ण ।।ऋ० १।७३।७।। काला रंग।

प्रत्यकी कृष्ण मध्व ।।ऋ० १ । ९२ । ५ ।। —काला रंग।

प्रमन्दिने यः कृष्ण गर्भा निरहन्नृजिश्वना ।।ऋ० १ । १०१। १।।

यहाँ कृष्ण गर्भा के अर्थ पाप गर्भा के है।

तन्मित्रस्य······कृष्णमन्यद्धरित' सं भरन्ति ।।ऋ० १।११५।५

अथर्व० ३०।१२३।२।२। यजु २३।३८।

कृष्ण कर्षक, आकर्षण करने वाला -

अयं चक्रमि......आकृष्ण ईजुः ।। ऋ० ४। १६ । १४ ।।

कृष्ण वर्णो मेघः ।। (सायण) काला बादल।

अहश्च कृष्णं हरर्जुनञ्च ।।ऋ० ६ । ९ । १ ।

यहाँ कृष्ण शब्द दिन का विशेषण है। जिसके अर्थ काले के हैं।

अघ दस्रो वृजनं कृष्णमस्ति ।।ऋ० ७ । ३ । २ ।। य० १५।६२।।

अयं नाम वृजन कृष्णा भवतीति वृजति गच्छत्य तनेनेति ।।

वृजन कृष्णं भवति। (उव्वट)।

एतस्याग्ने वृजनं गमन् स्थानं कृष्णमस्ति श्याम भवति। कृष्ण-वर्त्मा हुतासनः। (महीधर)।

कृष्णोऽअसि ॥ यजु० २। १ ॥—अस्ति कृष्ण शब्दो वर्ण वचना-ऽन्तो दात्त आस्ति कृष्ण शब्दो मृगवचन आद्युदात्त। तदि हाद्युतातत्वात् कृष्णमृगो गृह्यते ॥ (उव्वट)

अय तु कृष्णः शब्द आदात्त त्वान्मृगवाचि ॥ [महीधर]

यहाँ पर कृष्ण शब्द काले मृग का अर्थ देता है।

अश्वस्तु......कृष्ण ग्रीव. ।. यजु० २४।१॥

कृष्णग्रीवश्छागः। [उव्वट] कृष्ण ग्रीवः श्याम गलोऽजः [महीधर]

—काली गर्दन वाला बकरा।

आकृपरणेन रजसा ॥ यजु० ३३। ४३॥—कृष्णेन रजसा रात्रि लक्षणेन सह ॥ [उव्वट—महीधर]

यहाँ आकर्षण के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

कृष्णेन रजसा ॥ यजु० ३४। २५।—तमोलक्षणेन। [उव्वट]

कृष्णेन अंधकार लक्षणेन (महीधर)—अंधकार।

वेदो में कही कही राम शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। उसका भी अर्थ प्रायः अंधकार ही लिया गया है—उसका अर्थ ईश्वर अथवा रामावतार के लिये कही भी नही लिया गया। ऐसा ही एक मन्त्र जिसे प्राय रामावतार सिद्ध करने के लिए प्रमाण रूप मे प्रस्तुत किया जाता है; निम्न प्रकार है:—

भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्।
सुप्नकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्रुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥

सायण भाष्य:—ऋ० १०।३।३

भद्रो भजनीयः कल्याणो भद्रया भजनीयया दीप्त्योषसा वा सचमानः सेव्यमानः सगच्छमानो वन्नि रामात् आजगामागा र्हपत्यादाहवनीयमागच्छति तत पश्चाज्जारो जरयिता शत्रूणां सोऽग्नि

स्वसारं स्वयं सारिणी भगिनी वागसामुषमभ्येति । प्रथा अप्रकेतैः सुप्रज्ञानैर्द्युभिः दीप्तैस्तेजोभि. सर वितिष्ठन् सर्वतो वर्त्तमानः सोऽग्नीसरुशद्भिः श्वतैर्वरौविरिकैरात्मीयैस्तेजोभी राम कृष्णं शार्वरतमो उभ्यस्थात् । सायं होम ऽभिभूय तिष्ठति ।

यहाँ पर सायण ने राम का अर्थ कृष्ण रगवाला, रात्रि सम्वन्धी अन्धकार किया हैं ।

महावीर

शत पथ में यज्ञ के एक मिट्टी के पात्र 'महावीर' को वनाने का वर्णन है और उसमे इसके वनाने में कुछ वेद मन्त्रों का भी विनियोग किया गया है । इसी 'महावीर' पात्र को लेकर मूर्ति-पूजा समर्थक वहुत से पौराणिक पडित इससे 'महावीर' की मूर्ति-पूजा सिद्ध करने का प्रयत्न करते है यद्यपि इन वेद मन्त्रो मे कही भी 'महावीर' का उल्लेख नही है, और इन मन्त्रो का विनियोग सर्वथा असगत है तथापि हम यहाँ कुछ प्रमाण देते हैं कि 'महावीर' यज्ञ पात्र ही है अन्य कुछ नही । यहाँ यह भी विचारणीय है कि यह 'महावीर' यदि मूर्ति है तो किसकी है ? तव क्या पूँछ वाले पौराणिक हनुमान की है ? महावीर कोई पौराणिक ईश्वरावतार तो है नही, जो इनके अवतार 'राम' के अनुसार थे । अथवा जैनो का तीर्थंकर 'महावीर' है ? इनकी वुद्ध के समान अवतारों मे गणना नही की गई । ऐसी दशा में 'महावीर' की मूर्ति-पूजा वेदो से सिद्ध करने मे इनका क्या लक्ष्य है—यह यही जाने ।

"कि ते कृण्वन्ति कीकटेषु०" ऋ० ३।५३।१४॥

इन उपर्युक्त ऋक् मन्त्र पर सायणाचार्य जी "धर्मप्रवर्ग्याख्य कर्मोपयुक्तं महावीर पात्रम् स्वपयः प्रदान द्वारेण न तपन्ति" ॥

३ । ५३ । १४ ॥

अर्थात् कीकट देश वह कहलाता है जहाँ पर गौऐ अपने दूध से कर्म काण्ड मे आने वाले पात्र महावीर को नही तपाती ।।

तदेतद् देव मिथुन यद् धर्मः ।।

(ऐतरेय ब्राह्मण, १ । ४ । ५ । पृ० ९७।।)

इस पर सायणाचार्य जो—

"सयोधर्म प्रवर्ग्य हविराश्रय भूतो महीवीराख्यो मृन्मयपात्र विशेपो योऽसावस्ति छिन्न प्रजननेन्द्रियरूपम्" । पृष्ठ ९७।।

अर्थात् वह यह धर्म है जो प्रवर्ग्य हवि का आश्रय भूत है। इसका नाम महावीर है—मिट्टी का पात्र है............

महावीर यज्ञ साधने मृन्मय –पात्र भेदे तन्निर्माण विधि· ।

(का० श्रौ० सू० २६ ।। वाचस्पत्यकोषखड २० पृष्ठ ४७४४)

अर्थात 'महावीर' यज्ञ के साधन मे मिट्टी का पात्र विशेष है।

"यदि महावीरो भिद्येत०" (ताण्डय ब्राह्मण ९ । १० । १। ।।पृष्ठ ६२३ ।।)

इस पर सायण जी—

"यदि प्रव्रजन समये महावीर त्रुट्येत् प्रादेश मात्र मृन्मये तस्मिन् पात्रे वहुल घृतमानीय सन्तप्त तस्मिन्नाज्येपय: आनीय प्रवज्यते स्वप्रवर्ग्यं पात्र विशेप महावीर सपदि भिद्येत् भिन्नो भवेत् तद् भिन्न महावीर पक्षते" ।।पृ०६२३ ।।

आशय—यदि कार्य करते समय महावीर पात्र टूट जाय 'त्रुटटेत्' तो उस महावीर पात्र को घृत मे दूध मिलाकर पकाले आदि।

ग्रिफिथ साहब ऋग्वेद की टीका करते समय पृष्ठ ४९२ पर लिखते है—

"Heated for Pravargya—In which fresh milk was poured into a heated vessel called 'Mahavira,' or as in this place Gharma."

देवतायतनानि कम्पन्ते दैवत प्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति, नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्ति उन्मीलन्ति ।। षड्विंश ब्राह्मण ।

इस ब्राह्मण वचन को देख कर मूर्तियो का हंसना, रोना नाचना, पसीना आना, आदि क्रियाओं का होना सिद्ध किया जाता है। यद्यपि यह वेद मन्त्र नही है और न इस ब्राह्मण को जिसका यह वचन है प्रमाण ही माना जाता है।

तथापि यदि मान भी ले तब मन्दिरों की मूर्तियों में यह क्रियाये कहाँ दिखाई देती हैं ? इस प्रकार की मिथ्या कल्पनाओ द्वारा जन साधारण को पडे–पुजारिओं के धोखा देने के दिन गये। अब यदि यह चमत्कार कर दिखाये जाँय तो मूर्तिपूजा स्वयं सिद्ध हो जाय।

यहाँ हमने इन वेद मत्रों के वे अर्थ जो हमें अभिमत हैं, ग्रन्थ विस्तार भय से नहीं दिये। इन मत्रो पर जिन भाष्यकारो की हमने ऊपर सम्मतियाँ उद्धृत की है उनसे हमारा अभिप्राय केवल इतना ही सिद्ध करना है कि वेदो के इन मत्रो मे जैसी कि कुछ विद्वानों को भ्रांति है, मूर्ति पूजा तथा उसका सहचर अवतारवाद नही है। ऐसे और भी मत्र हैं जिनमे किसी पुराण प्रतिपादित अवतार देवता तथा तीर्थस्थानादि का नाम देख कर वेदो में उनका उल्लेख सिद्ध करने का निरर्थक प्रयास किया जाता है वास्तिविकता यह है कि इस देश के विद्वानो का आलस्य और प्रमाद के कारण हजारोवर्ष मे वेदो का पठन पाठन यहाँ सर्वथा विलुप्त होगया। मध्यकालीन पौराणिक युग में वेद और वेद मत्रो का विनियोग केवल यज्ञादि कर्मकाण्ड में होना शेष रहगया। उनका शब्दार्थ करने अथवा जानने की कोई आवश्यकता नही समझी जाने लगी, परिणाम जो होना था वही हुआ। यहाँ के सस्कृत के दिग्गज विद्वानों तक ने वेद मन्त्रो के कुछ शब्दो को लेकर उनका अशुद्ध विनियोग करना प्रारम्भ कर दिया। "शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये' को

शनिदेवता का 'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि" । को नवग्रह के वुद्धदेवता का, "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे"। को गणेश पूजन का मन्त्र कहा और समझा जाने लगा। यद्यपि इन मन्त्रो का पौराणिक देवताओं से दूर का भी सम्बन्ध नही है। इसी का अनुकरण वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ बहुत से पाश्चात्य विद्वानो ने किया और उसी का अनुगमन यहाँ के अग्रेजी के विद्वान कर रहे हैं। पौराणिक विद्वानो द्वारा इन मन्त्रो के अर्थ का अनर्थ करने का कारण जहाँ उनकी वैदिक साहित्य मे गति न होना है, वहाँ उनके परम्परागत सस्कार, दुराग्रह एव मदिर तथा तीर्थस्थानो से लगा हुआ जीविका साधन भी है।

हजारो वर्ष के पश्चात् इस युग मे वेदो के बुद्धिगम्य भावार्थ को समझने और समझाने का श्रेय एक मात्र ऋषि दयानन्द को ही दिया जा सकता है। यदि दयानन्द ने उनका युक्तियुक्त अर्थ करने का मार्ग प्रदर्शित न किया होता तो वेदो को गडरियों के गीत समझने मे कोई सदेह नही रह गया था। शताब्दियों विलुप्त वेदों की मानमर्यादा की पुनः स्थापना ऋषि दयानन्द द्वारा ही सम्भव हुई।

पौराणिक काल मे वेदों की अक्षम्य उपेक्षा के साथ उन्हे ईश्वरीय ज्ञान के सर्वोच्च पद से च्युत करके उस स्थान पर पुराणो को आसीन करने का किस प्रकार दुष्प्रयास किया गया — इसके प्रमाण पौराणिक साहित्य के अनुशीलन से आपको स्थान स्थान पर मिलेगें।

यहाँ सक्षेप में जो थोड़े से वेद मत्र दिये गये है उनसे विद्वान पाठको को यह समझने मे कुछ सहायता मिलेगी कि मूर्तिपूजा अथवा अवतारवादादि को वेदो मे सिद्ध करने का प्रयास सर्वथा निराधार और नि.सार है तथा वास्तविकता से बहुत दूर है।

मूर्तिपूजा का मानव जीवन पर प्रभाव

'जीवन' आत्मा और शरीर के संयोग का नाम है। अतः मनुष्य जीवन की उन्नति वा अवनति इन्ही दोनों की उन्नति वा अवनति पर निर्भर है। मूर्तिपूजा इसमे कहाँ तक साधक वा बाधक है, यही हमे यहां विचार करना है।

ईश्वरोपासना आत्म-उन्नति का सर्वमान्य साधन समझा जाता है। जब आत्मा अपनी वृत्तियो को बाह्य जगत से हटा, अन्तर्मुख हो ईश्वरचिन्तन में लवलीन होता है तो हम उसी सामीप्य को उपासना कहते है। इसी उपासना द्वारा जीवात्मा अपने मलविक्षेप को दूर कर ईश्वरीय गुण धारण करता है। परन्तु यदि हम ईश्वर के स्थान पर जड़ जगत अथवा जडमूर्ति का सामीप्य ग्रहण करते है, तो स्वभावतः उन्ही के गुण हम में आते है। जैसी हमारी संगति होगी वैसे ही हम बनेंगे। यह एक प्रसिद्ध कहावत है। परन्तु मूर्ति मे न तो ईश्वरीय गुण है और न वह उसकी आकृति है। अतः वह ईश्वर प्राप्ति का माध्यम भी नही हो सकती। चेतन जीव जड़मूर्ति से प्राप्ति ही क्या कर सकता है? उसे तो अपने से किसी बड़ी सत्ता की आवश्यकता है जिससे कुछ प्राप्त कर सके। यह कहा जा सकता है कि मूर्ति ईश्वर की न सही उसके अवतार की तो है। ईश्वर न अवतार धारण करता है और न उसे उसकी आवश्यकता है, यह हम पूर्व ही सिद्धकर चुके है। ईश्वर-अवतार

सिद्ध करना ईश्वर को पदच्युत करके उसे जीव की कोटि में रख देना है। यूनान के एक दार्शनिक जेनोफेनीज ने ऐसे लोगों की मनोवृत्ति का निम्न शब्दो में वर्णन किया है:—

"Negroes imagine them as black with flattened noses, the Thracians with blue eyes and red hairs, if oxen and horses could paint, they would represent their gods as horses and oxen." (The Problems of Philosophy by Janet and Seailles p. 249)

अर्थात "नीग्रो लोग अपने देवताओं को काला और चपटी नाक वाला समझते हैं और थ्रेस निवासी उन्हें नीली आख और लाल केशो वाला। यदि बैल और घडे भी चित्रकारी जानते तो वे अपने देवताओ को बैल और घोड़े की आकृति वाला ही बनाते।" ठीक यही अवस्था इन अवतारवादियो की है। इस यूनानी दार्शनिक को कदाचित यह पता नही था कि भारतीय पुराण कर्ताओ ने हयग्रीव (घोडे के शिर वाला) नरसिह (सिह के शिरवाला) सूकर, कच्छ और मच्छ के ईश्वर अवतार की सृष्टि करके उसकी कल्पना की मनुष्य द्वारा ही पूर्ति करा दी है।

मूर्तिपूजा यदि वीरपूजा (hero-worship) के रूप तक ही सीमित रही होती तो इससे मनुष्य जाति का इतना अकल्याण न हुआ होता। अपने महान् पूर्वजो का गुणगान तथा उनका चित्र अथवा मूर्ति-निर्माण कोई बुरा कार्य नही है। किन्तु उसकी उपादेयता उसी समय तक ही है जब हम उनके जीवन को उनके ही पदचिह्नों पर चल कर अपना आदर्श बना लें। उनके चित्र अथवा मूर्ति तब ही हमारे जीवन मे स्फूर्ति पैदा कर सकती है। परन्तु उन्हें ईश्वर मानकर प्राण प्रतिष्ठा द्वारा चेतन

सत्ता समझ लेना और स्तुति प्रार्थना द्वारा उनसे रक्षा अथवा सहायता की आशा रखना अज्ञान और मूर्खता की पराकाष्ठा है। हिन्दुओ की प्रचलित मूर्तिपूजा-विधि यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि वे मूर्तियो को एक चेतन सत्ता समझते हैं। मन्दिरो मे मूर्ति स्थापित करते समय प्राण प्रतिष्ठा की परि-क्रिया भी हमें इसो परिणाम पर पहुचाती है। परिणाम स्वरूप हिन्दुओ का यह विश्वास रहा है कि मूर्तियाँ उनकी रक्षा और सहायता करने की जहाँ सामर्थ्य रखती हैं वहाँ उनका अनिष्ट भी कर सकती हैं। इस प्रकार हिन्दुओ की मूर्तियो ने सर्वांश मे 'ईश्वर' का स्थान ग्रहण कर लिया था। आज भी चाहे शिक्षित समुदाय इस प्रकार का विश्वास न रखता हो, किन्तु हिन्दुओं की निम्न श्रेणी का यही विश्वास हैं और यही भावना है। यह युक्ति कि हम मूर्ति द्वारा अदृश्य परमात्मा का चिन्तन करते हैं या वह हमारी धारणा वा ध्यान का एक साधन है सर्वथा कपोल कल्पित है और यह युक्ति मूर्तिपूजा के विरुद्ध आक्षेप से बच निकलने के लिये घड़ ली गई है।

उपर्युक्त विश्वास ने हिन्दू जाति का कितना अनिष्ट किया है, इसका वर्णन लेखनी की शक्ति से बाहर है। मुस्लिम काल के एक हजार वर्ष की हमारी दुर्दशा और निरुपाय पराधीनता इसी विश्वास के कुपरिणाम है। जब तक हिन्दू जाति के अन्दर यह विश्वास है, हमारा दृढ़ निश्चय है कि वह किसी भी प्रकार की मुक्ति, चाहे वह राष्ट्रीय हो, चाहे सामाजिक अथवा धार्मिक, प्राप्त नही कर सकती। जो लोग राष्ट्र निर्माण मे धार्मिक विश्वासों को कोई स्थान नही देते वे भूल करते हैं। धार्मिक विश्वास ही हमारा व्यक्तिगत जीवन निर्माण करता है। सामूहिक व्यक्तिगत जीवन ही किसी समाज को ऊँचा उठाता

है और अन्त समाज ही राष्ट्र का निर्माण करता है। अतः धार्मिक विश्वासो की अवहेलना करके राष्ट्र निर्माण का सुखद स्वप्न देखना बुद्धिमत्ता नही है।

धार्मिक विश्वास ने अरब, तुर्क, मुगल जैसी मूर्तिपूजक बर्बर जातियो को थोडे से समय मे एक झडे के नीचे लाकर सुसङ्गठित कर दिया। धार्मिक विश्वास ने ही उस आर्य जाति को, जो आज भी ससार मे अपने ब्रह्मवाद के लिये प्रसिद्ध है, दिभिन्न सप्रदायों जातियो और उपजातियो में विभाजित करके वर्तमान दुरवस्था में परिवर्नित कर दिया है। राजा दाहिर की पराजय इसी विश्वास का तो फल था। महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ की लूट भी उसी का दुष्परिणाम था। राजपूत सैकिों का विश्वास था कि सोमनाथ उनकी रक्षा करेंगे, परतु जैसे ही मन्दिर विध्वस हुआ, उन्होंने अपनी पराजय निश्चित समझली और अपना सारा साहस खो बैठे। जिसका ईश्वर ही पराजित हो गया फिर उसके भक्तों की रक्षा कैसे सभव थी? इस पर कोका जैसे देशद्रोही भविष्यवक्ता उनका रहा सहा साहस नष्ट करने वाले ज्योतिपियों की यहा कमी नही थी। मुहम्मद गौरी, तैमूर, नादिरशाह के इस देश पर निरतर आक्रमणों की तह मे यहीं विश्वास कार्य कर रहा था सृष्टि का यह नियम है कि चिऊँटी जैसा क्षुद्र जीव भी प्रतिक्रिया करता है। हिन्दू लाखों की सख्या मे दास बनाकर दूर देशस्थ गजनी आदि स्थानों में भेड बकरी की भाँति ले जाये गए। तैमूर के एक सैनिक के पास इतने हिन्दू बन्दी थे कि उनका प्रबन्ध असम्भव हो गया। खाने की सामग्री के अभाव में उन्हें गाजर-मूली की भाँति टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया। परन्तु वे इतनी बडी सख्या में होते हुए भी कुछ न कर सके। क्या इससे यह सिद्ध नही होता कि उनकी मानसिक अवस्था कीड़े-मकोड़े से भी गई बीती थी।

हम इन दुःखद गाथाओ की, जिनका इस पुस्तक मे यथास्थान वर्णन हो चुका है, पुनरावृत्ति नही करना चाहते। हम केवल इससे इतना ही सिद्ध करना चाहते हैं कि किसी जाति के उत्थान पतन में उसका धार्मिक विश्वास एक सक्रिय कारण होता है, जिसे अदृष्टिगोचर नही किया जा सकता।

इस सृष्टि मे हम देखते है कि प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव अपने कार्य और भोगानुसार एक दूसरे से किसी न किसी अंश मे भिन्न होता है। इस विभिन्नता का सङ्गतिकरण करने के लिए किसी समाज में कुछ नियमों की आवश्यकता होती है। इन्ही नियमो का दूसरा नाम धर्म है। इसी प्रकार मनुष्य-समाज को एक सूत्र मे बांधने के लिए एकेश्वर का सिद्धात भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि धर्म, किंतु जब मनुष्य अपनी उच्छृखलता से अपने अपने स्वभाव अथवा रुचि के अनुसार अनेक ईश्वरो, देवताओ एव संप्रदायो और धर्म ग्रथो की सृष्टि करने लगता है तो मनुष्य समाज अनेक भागो मे विभाजित होकर सासारिक कलह का कारण बन जाता है। ससार के इतिहास मे ईश्वर और धर्म के नाम पर होने वाले अन्याय और अत्याचार इसके साक्षी है। कदाचित् आज का ईश्वर और धर्म विरोधी जनसमाज इसी साम्प्रदायिक कलह का कुपरिणाम है। कापालिको ने अपने अनुरूप 'शिव' की कल्पना करली। माँस-मदिरा प्रेमियो ने अपनी रुचि के अनुसार 'शक्ति' की सृष्टि कर डाली। रसिकस्वभाव लोगो ने विष्णु और उसके पूर्णावतार कृष्णको जन्म दिया। प्रत्येक ने अपने अपने उपास्यदेव की प्रशसा मे अनेक ग्रन्थो की—जो पुराणो के नाम से विख्यात हैं—रचना करली। उनकी मूर्ति-रचना भी उनकी रुचि के अनुकूल ही है। शैवो का शिव लिङ्ग, शाक्तो की चिकराल रूप काली और वैष्णवो का रसिक राधावल्लभ कृष्ण

उन-उन सम्प्रदायो की प्रतिच्छाया है। उपर्युक्त देवमूर्तियों का उनके उपासको के चरित्र पर क्या प्रभाव पडेगा—ये हम पाठकों के ही निर्णय पर छोडते है। यह केवल अब अनुमान की वस्तु ही नही रह गई किन्तु इन सम्प्रदायवादियो के चरित्र पर उनकी प्रत्यक्ष छाप देखी जाती है।

किसी चित्र या मूर्ति को देखकर हम पर दो ही प्रभाव पड़ सकते हैं। प्रथम उस व्यक्ति की स्मृति, जिसकी कि वह मूर्ति है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब हमारा उस व्यक्ति के जीवन से परिचय हो। यदि वह सद्गुणसम्पन्न था, अथवा है, तो उसके प्रति हमारी श्रद्धा और प्रेम के भाव जागृत हो सकते है। यदि वह दुष्टस्वभाव है, तो घृणा और द्वेष के भाव उत्पन्न होंगे। दूसरा प्रभाव, मूर्ति की सुन्दरता अथवा कुरूपता के साथ मूर्तिकार की कला का, उसने दर्शक पर पडता है कोई भी मूर्ति. अमूर्त परमात्मा की न होने से हमारा ध्यान ईश्वर की ओर आकृष्ट नही कर सकती उसके बनाये सूर्य, चद्र, नक्षत्र, प्राणियो को अद्भुत शरीर रचना, ससार को विमोहित करने वाले वृक्ष, लतिका और पुष्पो से लदे हुए पहाड़ और जङ्गल न हो हमे उसकी स्मृति दिला सकते है। इन्हें त्याग कर कुशल से कुशल मूर्तिकार की रचना मे ईश्वर दर्शन की इच्छा केवल बुद्धि-विभ्रम है।

मूर्तिपूजा का सामाजिक दृष्टि से मानव जीवन पर क्या कुप्रभाव पड़ना है, इसे यदि आप देखना चाहे तो हिन्दुओं के तीर्थ स्थानो की आन्तरिक अवस्था को देखिये। आप सर्वत्र अन्धविश्वास, दभ आडबर और दुराचार का साम्राज्य पावेंगे। वहाँ आपको ऐसे भी लोग मिलेंगे जो मूर्तिपूजा की उपादेयता मे विश्वास रखते हैं। किन्तु प्राय. ऐसे लोग वे हैं जो बाहर से आये हुए है और जिन्होने पवित्र स्थान समझ कर उन्हें

अपना निवास स्थान बना लिया है अन्यथा वहाँ के निवासी मूर्ति पूजा में जीविका के लिये विश्वास करते है। दूरदेशस्थ प्रान्तों से आये हुये यात्रियो को मूर्तियो के चमत्कार को अनेक कल्पित गाथाये सुनाकर उन्हे प्रभावित तथा भयभीत करना और बहुप्रकार के दभ और आडम्बर दिखाकर उनकी जेब की अन्तिम पाई तक खाली करा लेना ही इनका मुख्य व्यवसाय है। कभी तो यहां के पण्डे इन यात्रियो के पास इतना धन भी नही छोडते कि वे घर भी लौट कर जा सके। अन्त मे पण्डे ही इन्हें ऋण देकर ब्याज सहित उनसे उसे अपहरण करते है। स्त्रिया जो प्राय: अधिक भावुक होती है, इनसे बुरी तरह लूटी जाती हैं। उनके चाँदी सोने के आभूषण तक उतरवा कर यह मूर्तियो के अर्पण करा देते है। इन यात्रियों की धर्मभीरुता का ये लोग कितना दुरुपयोग करते है, उसका ठीक अनुमान देख कर ही लगाया जा सकता है। उन स्थानो पर होने वाला परस्त्रीगमनादि व्यभिचार अब कोई छिपी बात नही है। इन दुष्कृत्यो के लिये मन्दिरो के न केवल साधारण पण्डे-पुजारी ही, अपितु बडे-बड़े महन्त तक ख्याति लाभ कर चुके है। बम्बई का महाराज (वैष्णव सम्प्रदाय का एक प्रमुख महन्त) लाइबिल केस, कलकत्ते के गोविन्द भवन की गूँज और श्रीनाथ जी के मन्दिर के महन्त दामोदर लाल हत्या प्रेम—जैसी न जाने कितनी घटनाएँ घटी, और आज भी इन देवमूर्तियों की आड़ मे घटती रहती है।

मूर्तिपूजा पर देश का कितना धन पानी की भाँति बहाया जाता है इसका अनुमान करना भी कठिन है। मन्दिर निर्माण पर अरबो खरबो का व्यय किया गया है, जिनकी बनावट इस ढग की है कि उनका कोई दूसरा सदुपयोग असंभव है। अन्धकार युक्त कोठे-कोठरी, जिनमे दिन मे भी दीपक के प्रकाश की

आवश्यकता होती है, मूर्तिपूजा से फैलने वाले अन्धकार का द्योतक है। मन्दिरो से लगी हुई करोडो रुपयो की वार्षिक आय की अचल सम्पत्ति, उससे भी कही अधिक चढावा, यह सब जाति का एक ऐसा धन है जिसका यहाँ अत्यन्त दुरुपयोग होता है।

देश के लाखो अनाथ बच्चे अन्न के एक-एक दाने को तरसते हैं। किन्तु पाषाण-हृदय हिन्दू समाज इन जीवित मूर्तियो से उदास रहकर अपना असख्य धन पाषाण मूर्तियो पर न्यौछावर कर देता है, जिससे लाखो निठल्ले साधु, पण्डे, पुजारी और महन्त आनद का जीवन व्यतीत करते है। इन मूर्तियो के भोग के लिये अनेक प्रकार का सुस्वादु भोजन, जो धनवानो को भी दुर्लभ है, नित्यप्रति इतनी बहुतायत से बनाया जाता है कि मन्दिर के कर्मचारियो के उपभोग से बचकर बाजार से मन्दिरो की दुकानो पर बिकता है। हिंदुओ की अपार धनराशि प्रतिवर्ष तीर्थयात्रा के नाम पर रेलो पर व्यय होती है।

इन सबके अतिरिक्त पर्वो और कुम्भो के अवसर पर इन यात्राओं मे जो कष्ट होता है उसे हम नित्यप्रति देखते है। ऐसे अवसरो पर जो सक्रामक रोग इन तीर्थ स्थानो पर फैलते हैं वह भी हम समाचार पत्रो मे पढते रहते है।

हिन्दू जाति का जो धन इस प्रकार मूर्तिपूजा के नाम पर लुटता है यदि उसे शिक्षा-प्रसार पर लगाया जाय तो कई विश्वविद्यालय गवर्नमेण्ट से बिना सहायता प्राप्त किये चलाये जा सकते है जिनके द्वारा आर्य सस्कृति की रक्षार्थ बहुत कुछ क्रियात्मक कार्य किया जा सकता है। अनाथ, असहाय, वृद्ध और विधवाओ के लिये आश्रम खोलकर उनके कष्ट निवारण किये जा सकते है। चिकित्सालय खोल कर देश के निर्धन रोगियो की सहायता की जा सकती है। ऐसे ही न जाने कितने कार्य है जो धनाभाव मे नही हो पाते। परन्तु इसके लिये हमारे

पास धन नहीं है। हाँ, छल कपट से इन कल्पित ईश्वर और धर्म के नाम पर जितना चाहे आप हमसे धन अपहरण कर लीजिए।

हिन्दू जाति की रक्षार्थ अनेक प्रयत्न किए गए और आज भी किए जाते हैं। परन्तु वे सब ही किसी न किसी अंग में असफल रहते हैं। थोडे से सुधार-प्रिय हिन्दू ग्राम-ग्राम और नगर-नगर फैले हुए मूर्तिपूजा के असंख्य एजेन्टो का, जिनकी जीविका का आधार ही मूर्तिपूजा है, कैसे प्रतिकार कर सकते हैं ? ग्राम का पण्डित, वहाँ का पुरोहित, मन्दिर का पुजारी, देवी का भक्त, भूत प्रेत की झाड़ फूंक करने वाला सयाना, दर्गाहों का मुजावर न जाने कितनों की जीविका का साधन यह मूर्ति-पूजा बनी हुई है। तब बताइये, मुट्ठीभर सुधारक उसे कैसे निर्मल कर सकते हैं ? गुरु नानक और कबीर आदि के अनुगामियो ने भी कदाचित् इसका अनुभव किया होगा! और उन्होने विवश होकर अन्तत: मूर्तिपूजा से किसी न किसी रूप मे समझौता कर लिया। गुरुद्वारो में देवमूर्तियो के स्थान पर गुरु-ग्रथसाहब की पूजा इसका एक स्पष्ट उदाहरण है।

मूर्तिपूजा द्वारा जीवन यापन करने वाले इस समुदाय ने राजा राममोहन राय का घोर विरोध किया। ऋषि दयानन्द को तो न जाने कितनी बार इसके लिए विष तक का पान करना पड़ा। मूर्तिपूजा हिन्दू जाति का एक असाधारण रोग है अत: इसके प्रतिकार के लिए असाधारण चिकित्सा की ही आवश्यकता है।

मूर्तिपूजा और योगसाधन

योगसाधन ही ईश्वर प्राप्ति की एक मात्र विधि है। अन्य प्रचलित विधिया उसका एक अङ्ग हो सकती हैं, सर्वाङ्ग नही। ससार मे ईश्वर-उपासना की जो विधिया प्रचलित हैं, उनमे से बहुत सी किसी न किसी अश मे उसकी ऋणी है, किन्तु अपूर्ण है। इस विधि को समझने के लिए उसका सक्षिप्त परिचय यहा अनुचित न होगा। पतञ्जलि मुनि ने अपने ससार प्रसिद्ध योग-दर्शन मे, "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:"-चित्त की वृत्तियो का निरोध अर्थात् वश में रखना योग है—ऐसा लिखा है। "यमनियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि" —यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह आठ अङ्ग योग के वर्णन किये है।

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा."—अहिसा, सत्य, अस्तेय (चोरी त्याग) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहा (निर्लिप्तता) यम है। शौचसन्तोषतप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा"—शौच, (पवित्रता) सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वरार्पण) नियम हैं। शेप छ: अङ्ग—आसन (सुखपूर्वक शरीर को एक अवस्था में स्थिर रखना,) प्राणायाम (प्राण को वश में रखने की विधि) प्रत्याहार (इन्द्रिय निग्रह) धारणा (मन की एक स्थान पर स्थिरता) ध्यान (मन का स्थिर होकर निर्विषय हो जाना) समाधि (ईश्वर चिन्तन मे निमग्न हो जाना) हैं।

उपर्युक्त योग-साधन-विधि सर्वाङ्ग पूर्ण है। आज तक जितनी भी विधिया योग के नाम से प्रचलित हुई हैं वे सब इस ही का विकृत रूप है। प्राय: यह कहा जाता है कि यह विधि इतनी दु:साध्य है कि कदाचित कोई ही मनुष्य इसपर चलकर ईश्वर-प्राप्ति कर सके। ईश्वर-प्राप्ति जीवन का अन्तिम और सर्वोच्च ध्येय है, अत: योग विधि, यदि कठिन है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु हम ईश्वर प्राप्ति के अनेक सस्ते—किन्तु मिथ्या—उपायों के अभ्यस्त होगये हैं। आप मूर्ति के दर्शन मात्र से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। किसी नदी अथवा जलाशय में एक बार का स्नान आपको स्वर्ग प्राप्त करा सकता है। किसी विशेष प्रकार का तिलक अथवा चिन्ह आपको मुक्ति दिला सकता है। इतना ही नही केवल एक बार नामोच्चारण से आप उसके अधिकारी बन सकते है। जब ईश्वर प्राप्ति इतना सस्ता सौदा है, तोकौन ऐसा मूर्ख है जो यम नियमो के चक्कर में पडे? आसन, प्राणायाम का झंझट मोल ले अथवा स्वाध्याय मे सिरखप्पी करे? धारणा, ध्यान तथा समाधि—जो एक देवदुर्लभ वस्तु है—की तो चर्चा ही व्यर्थ है। इस प्रकार के झूठे प्रलोभनो ने हमें प्राचीन उपासना विधि से बहुत दूर ला खडा किया है। हम अष्टाङ्ग योग से अपरिचित नही, परन्तु सस्ते नुस्खो के सामने हमने उसे छोड रखा है। साधारण समाज की बात जाने दीजिये, हमारा शिक्षित समुदाय भी आज उससे विमुख है।

मूर्तिपूजा का योगसाधन मे कोई उपयोग नही और न उसका इससे कोई सम्बन्ध है। मूर्ति मे मन स्थिर होजाता है, यह नई युक्ति है जो शिक्षित समुदाय को प्रभावित करने के लिये गढी गई है। न केवल भारतवर्ष अपितु समस्त ससार की मूर्तिपूजा का इतिहास इस युक्ति की सहायता नहीं करता। यदि

मन्दिरों मे मूर्ति-स्थापना का यह उद्देश्य होता तो उसमें प्राणप्रतिष्ठा के समस्त विधि-विधान की क्या आवश्यकता है ? मूर्तियो के स्नान, चन्दन, परिधान तथा विभूषण का क्या अर्थ ! भोग लगाना आरती उतारना, चवर डुलाना, पखा करना, सुलाना, जगाना, इस सबका क्या अभिप्राय है ? मूर्ति के समक्ष खडे होकर उसके हाथ जोडना अथवा साष्टाङ्ग दण्डवत् करने का क्या तात्पर्य है ? क्या शङ्ख, घण्टा, घडियाल आदि अनेक वाद्यो का कोलाहल कभी मन को स्थिर करने मे सहायक होसकता है ? मन्दिरो का समस्त वातावरण ही उपरिलिखित युक्ति का सर्वथा खण्डन करता है। मूर्तिपूजा का पोषक एक भी पुराण इस युक्ति का उल्लेख नही करता । और न मन्दिरो मे प्रचलित पूजा-विधि मे ही आज तक इसका समावेश है ।

मन्दिरो का जिस ढङ्ग से निर्माण किया जाता है वह भी हमारे ही पक्ष की पुष्टि करता है यदि मूर्ति-पूजाका उद्देश्य मन को स्थिर करना होता तो मन्दिरो की बनावट दूसरे ही प्रकार की होती । बहुत से बडे-बडे मन्दिरो मे उपासक यदि आसन लगा कर मन को स्थिर करने की भावना से मूर्ति के सन्मुख बैठें तो उन्हे मूर्ति का दिखाई पडना ही कठिन हो जायगा। या फिर शिवालय इतने सङ्कीर्ण होते है कि वहाँ चार छ उपासक भी एक साथ नही बैठ सकते। मध्य मे शिवलिंग, एक ओर शिवपत्नी पार्वती दूसरी ओर उनके पुत्र गजानन, तीसरी ओर उनका वाहन वृषभ । अब कहिए उपासक किस पर अपना मन स्थिर करे ? यदि आप कहे कि शिव लिङ्ग पर, तो अन्य मूर्तियो की स्थापना का वहाँ क्या उद्देश्य ? हमने लोगो को वृषभ की भी पूजा करते देखा है जो सर्वथा स्वाभाविक है । इस प्रकार समस्त मन्दिरो का निर्माण यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करता है कि कम से कम मूर्तिपूजा का

प्रचार कभी भी इस उद्देश्य से नही किया गया । यदि मूर्तिपूजा का उद्देश्य मन को स्थिर करना होता तो मूर्ति की स्थापना खुले स्थान मे होती जिसके चारो ओर उपासक बैठ कर उसकी धारणा कर सकें । धारणा योग का छटा अङ्ग है उसकी तैयारी के लिए पहिले पाच अङ्गो का उपासक को अभ्यास करना होता है । तबकहीं उसका अधिकारी बनता है । किन्तु मूर्तिपूजक के लिए इसकी आवश्यकता नही । वहां तो मन्दिर मे जाकर दर्शनमात्र से उसके पाप नष्ट हो जाते हैं । इतना ही नही, यदि भूल से भी देवमूर्ति अथवा उसके निवासस्थान मन्दिर की कुछ सेवा बन जाय तो पापी से पापी मनुष्य भी स्वर्ग का अधिकारी हो जाता है । पुराणो मे ऐसी अनेक कथाएँ हैं । एक चोर मूर्ति के आभूषण चुराने के लिये मन्दिर में आया मार्ग मे कुछ कीचड़ थी जिससे उसके पैर सन गए । मन्दिर के प्राङ्गण मे उसने अपने पैर रगड़ दिए । चोरी करके लौटते समय उसे सर्प ने काट लिया । यम और भगवान के दूतो मे उसकी आत्मा को नरक अथवा स्वर्ग ले जाने का विवाद उठ खडा हुआ । अन्त मे उसको स्वर्ग मिला । क्योंकि उसने भूल से अपने पैरो की कीचड़ मन्दिर मे रगड़ दी थी । इसलिये मन्दिर के लेपन का फल उसे मिल गया ।

भविष्य पुराण वा० अ० १७ के निम्न श्लोक इसके अन्य उदाहरण है —

नैरन्तर्येण यः कुर्यात् पक्ष सम्मार्जनार्चनम् ।
युगकोटिशत साग्र ब्रह्मलोके महीयते ॥

अर्थ—एक पक्ष तक यदि कोई निरन्तर ब्रह्मा के मन्दिर में झाड़ू देवे तो एक अरब युग तक ब्रह्मलोक मे रहता है ।

कल्पेनापि यः कुर्यात् ब्रह्मशालां सुभानद ।
संमार्जनादि पैष्णं सोऽपि तत् फलमाप्नुयात् ॥

जो कोई कपट और छल से भी ब्रह्मा के मन्दिर में झाडू लेपनादि करता है, उसको भी वही फल मिलता है जो श्रद्धा से करने वाले को मिलता है।

कल्पकोटिसहस्रैस्तु यत् पाप समुपार्जितम् ।
पितामहघृतस्नान दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥

अर्थ—करोड़ो कल्पो मे जो पाप सचित किया है वह ब्रह्मा को घी से स्नान कराने मे दूर हो जाता है। इस प्रकार पुराणो मे स्नान मार्जन, आचमन, धूप, दीप, मन्दिर निर्माण-आदि अनेक कृत्य जो देव मूर्तियो के प्रति किए जाते है उनका बडा माहात्म्य वर्णन किया गया है। जिससे इस परिणाम पर पहुचने मे, कि मूर्तिपूजा का योग की 'धारणा'से कोई भी सम्बन्ध नही है, कोई कठिनाई नही रहती। मूर्तिपूजा पर बुद्धिमान् लोग सदा आक्षेप करते रहते हैं। ऐसे लोगों को उत्तर देने के लिए चतुर मूर्ति-पूजक इस कल्पित युक्ति के आधार पर एक दार्शनिक भवन निर्माण करने का व्यर्थ प्रयत्न करते रहते है। अतःहम यहां इस युक्त के दार्शनिक पक्ष पर विचार करेगे।

इस पर विचार करने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि धारणा, ध्यान और समाधि क्या हैं और उनमे क्या अन्तर है। योग दर्शन के मतानुसार—

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" चित्त का किसी देश (स्थान) में बाँधना धारणा कहलाता है। "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"। उस धारणा मे प्रत्यय (ज्ञान) का एक-सा बना रहना ध्यान कहा जाता है। "तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि"। उसी ध्यान मे जब अर्थ (ध्येय) मात्र का प्रकाश रह जावे और (ध्याता) अपने रूप से शून्य-सा हो जावे तो उसे समाधि कहेगे। चित्त को एकाग्र करने के लिए अपने शरीर के नाभिचक्र, हृदय-कमल, भ्रूमध्य, नासिका का अग्रभाग

जिह्वा का अग्रभाग आदि स्थान प्रसिद्ध है। तथापि "यथाभिमतध्यानाद्वा" अथवा जो अभिमत (इच्छानुकूल) हो उसका ध्यान करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है—ऐसा दूसरे स्थान पर लिखा है। इन्ही शब्दों को लेकर लोग कहते हैं कि यदि हम किसी देवमूर्ति ही की धारणा अथवा ध्यान करे तो इसमें क्या आपत्ति है? परन्तु वे लोग भूल जाते हैं कि किसी वाह्य वस्तु की धारणा अथवा ध्यान करने से हम उसी का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, परमात्मा का नही। इनको योग दर्शन में सिद्धिया कहा गया है और उन्हे समाधि मे, जो योग की अन्तिम सीढी है विघ्न बताया है—'ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः" ये समाधि में विघ्न हैं किन्तु व्युत्थान (योगी की एक अवस्थाविशेष) में सिद्धियाँ है।

योग व सांख्य दर्शन में ध्यान के दो लक्षण किये गए हैं। परमात्मा के ध्यान के विषय मे लिखा है—'ध्यानं निर्विषयं मनः" (साम्ख्य) सम्पूर्ण सांसारिक विषयो से मन को हटाना ध्यान है। तात्पर्य यह है कि जब तक मन किसी सांसारिक वस्तु मे लगा रहेगा, परमात्मा का ध्यान नही होगा। जब किसी भी वस्तु विशेष का जिसमे ईश्वर और वाह्य जगत् दोनो हो सम्मिलित है, ध्यान किया जायगा तो उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा। यदि वह ईश्वर है तो ईश्वर का यदि शरीर से सम्बन्ध रखता है तो शारीरिक और यदि वाह्य जगत् से उसका सम्बन्ध है तो उस वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान योगी प्राप्त कर सकता है।

"नाभिचक्रे कायाव्यूह—ज्ञानम्" नाभि चक्र में धारणा ध्यान समाधि द्वारा शरीर की बनावट का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। "सूर्ये संयमात् भुवनज्ञानम्" सूर्य मे संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है। "कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्ति" कण्ठकूप नाड़ी मे संयम से भूख और प्यास की निवृत्ति होती है। इत्यादि अनेकों

सूत्रो द्वारा इनका फल, अनेक प्रकार की विद्या तथा विज्ञान की सिद्धि बतलाई है, किन्तु ईश्वर-प्राप्ति नही। इन्ही के द्वारा योगी दूरदेशस्थ स्थान की बात सुन और देख सकता है। तथापि यह समस्त सिद्धियाँ ईश्वर-प्राप्ति मे बाधक ही हैं।

अब यदि आप किसी मूर्ति को ही सन्मुख रखकर उसकी धारणा अथवा ध्यान करें तो आप उस मूर्ति का पूरा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् यह किस वस्तु की बनी है ? किसकी है ? उसे किसने बनाया है ? मूर्ति सुन्दर है अथवा कुरूप है ? और इस प्रकार मूर्ति अथवा मूर्ति कला का ही हमे परिचय प्राप्त होगा, परमात्मा का नही।

सूर्य-चन्द्रादि प्रकृति, पदार्थो का ध्यान हमे उनके निर्माता परमात्मा की स्मृति दिला सकते है। परन्तु मूर्ति द्वारा हम केवल मूर्तिकार तक ही पहुच सकते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक जगत् के भौतिक आविष्कार भी चित्त के सयम का परिणाम हैं केवल प्रकार का अन्तर है। परन्तु एक अभागे हम हैं कि योगदर्शन जैसे रत्नको रखते हुए भी लौकिक और पारलौकिक दोनो ही उन्नतियो से वञ्चित हैं। 'योगदर्शन' हिन्दू जाति के ज्ञान के भण्डार में एक ऐसा रत्न है, कि यदि हमने मूर्तिपूजा के भ्रमजाल में फस कर उसकी शिक्षाओं को विस्मृत न किया होता तो यह जाति उसके सम्यक् ज्ञान द्वारा आज उन्नति के शिखर पर होती। वर्तमान समस्त वैज्ञानिक खोज एक योगी के लिए साधारण-सी सिद्धिया है। जिन्हें वह परमानन्द की प्राप्ति के सम्मुख न केवल तुच्छ अपितु उसमे बाधक समझता है। केवल चित्त के एकाग्र होने पर चिरस्थायी सुख की प्राप्ति नही हो सकती अन्यथा विषयों मे भी थोडे क्षण के लिए चित्त एकाग्र हो जाता है। हम जो भी क्षणिक सुख अनुभव करते हैं वास्तव मे वह

हमें उस विषय से प्राप्त नही होता अपितु उसका मूल स्रोत चित्त की एकाग्रता है परन्तु यह चित्त की एकाग्रता भी स्थायी सुख का कारण नही है। स्थायी सुख तथा आनन्द का स्रोत तो परमात्मा है। अत: जब तक मनुष्य का चित्त प्राकृतिक पदार्थों मे उलझा रहेगा, चाहे वे योग की सिद्धिया ही क्यों न हो आनन्द की प्राप्ति नही हो सकती। इसीलिए इन सिद्धियो को भी परमात्मा की प्राप्ति मे बाधक बताया है। जब यह सिद्धियां ही बाधक है तो मूर्ति-पूजा का तो उसमे सम्बन्ध ही क्या ? 'मूर्ति' की योगदर्शन के किसी भी प्राचीन भाष्यकार ने धारणा की जाने वाली वस्तुओ मे गणना नही की और न मूर्तिपूजा की ओर कही सङ्केत ही किया है। यह तो एक ऐसी कल्पना है जिसके लिए न कोई युक्ति है, और न प्रमाण।

संसार मे यदि आज योग-साधन-विधि विलुप्त हो गई है, तो उसका समस्त उत्तरदायित्व मूर्तिपूजा और उसके प्रचारको पर है। यदि आज मानव समाज ईश्वरविमुख होकर सांसारिक भोग विलास के प्रभाव मे बहा जा रहा है तो इसके लिए वे उत्तरदाता है, जिन्होने योग-विज्ञान पर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कुठाराघात किया। हमने यदि इस अपूर्व विज्ञान को तिलाञ्जलि न दी होती तो आज ससार का चित्र ही दूसरा होता। पश्चिम के लोग आज भी योग के नाम पर मुग्ध हैं। अमेरिका के लिए इस भौतिक युग के चकाचौंध मे भी 'योग' शब्द विशेष आकर्षण रखता है। किन्तु आज 'योग विधि' अपनी जन्म भूमि भारत मे ही विलुप्त हो चुकी है। तब इन देशों को उसका क्रियात्मक सन्देश दे तो कौन दे ? मूर्ति चित्त को एकाग्र करने का साधन नही हो सकती इस पर आइए मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी विचार करलें। मन अपनी चंचलता के कारण अस्थिर रूप से इधर-उधर घूमता रहता है। इसकी इस चंचलता को

दूर करने के लिए उसे एक स्थान पर स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए। वह स्थान इतना सूक्ष्म होना चाहिए अथवा उसे क्रमशः इतना सूक्ष्म बना लेना चाहिए कि जिससे मन को इधर-उधर दौडने का अवकाश न मिले।

मेस्मरेजम (Mesmerism) जो योग का ही विकृत रूप है, का अभ्यास करने वाले गोलाकार विन्दु को सकीर्ण करते जाते है। यहाँ तक कि वह एक अत्यन्त सूक्ष्म विन्दु रह जाता है परन्तु अन्त मे उसे भी हटा दिया जाता है। अभिप्राय यह है कि मन को केन्द्रित करने के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु की आवश्यकता है जिससे उसे इधर-उधर दौडने का अवसर न मिले। किन्तु मूर्ति पर अभ्यास करने से हमारी उद्देश्य-पूर्ति न केवल कठिन अपितु असम्भव हो जाती है। मूर्ति के सम्मुख आते ही आपका मन उसके विभिन्न शारीरिक अङ्गों मे भ्रमण करने लगेगा। उसके चित्र विचित्र वस्त्रों तथा आभूषणो मे घूमेगा। यदि उस मूर्ति का आधार कोई ऐतिहासिक अथवा कल्पित पौराणिक व्यक्ति विशेष है तो मन तत्सम्बन्धिक इतिहास अथवा गाथा का स्मरण आते ही उसमे उलझ जायगा। और इस प्रकार साधक अपने उद्देश्य के निकट न पहुंचकर उससे उत्तरोत्तर दूर होता चला जायगा। इसलिए देश और जाति के शुभचिन्तक एव विचारशील पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे इस भयकर धार्मिक कुरीति का यथोचित प्रतिकार करने का प्रयत्न करे और इसके स्थान पर प्राचीन योग विधि का जिसमे कि एक साधारण व्यक्ति से लेकर उच्च से उच्च वैज्ञानिक के लिए उपासना की सम्पूर्ण विधि का समावेश है, प्रचार तथा प्रसार करें, एवं मूर्तिपूजा का योग क्रिया से सम्बन्ध स्थापित करने का जो अनुचित और स्वार्थ पूर्ण प्रयत्न किया जारहा है उसे दूर करने के लिए अग्रसर हों।

मूर्ति-पूजा शङ्का-समीक्षा

मूर्ति–पूज कब से चली अथवा किसने चलाई, प्राचीन धर्म ग्रन्थ उसका समर्थन करते है या नही, इस विवाद मे न पड़ कर मूर्तिपूजा के पक्षपाती अपने पक्ष मे अनेक युक्तियाँ दिया करते हैं। मूर्तिपूजकों मे बहुत बडी संख्या तो ऐसे व्यक्तियों की है जो मूर्तिपूजा मे परम्परा से श्रद्धा रखते हैं। आप चाहें तो उसे अन्ध-श्रद्धा कह सकते है। परन्तु उनका ऐसा ही विश्वास है। मूर्ति को श्रद्धा और विश्वास के साथ पूजा करते है। मूर्ति-ईश्वर की है अथवा ईश्वरीय शक्ति प्राण प्रतिष्ठा द्वारा उसमे आ गई है, इससे उनको कोई अभिप्राय नही। मूर्ति किस देवता अथवा अवतार की है इससे उन्हे विशेष प्रयोजन नही। मूर्ति उनकी प्रार्थना सुनने की शक्ति रखती है या नही यह जानने की भी उन्हे विशेष चिन्ता नही। वे उसकी पूजा ईश्वर-पूजा समझते हैं। आप उनसे इस विषय मे यदि कुछ प्रश्न करें तो वे इस विवाद मे पड़ने से बचने का प्रयत्न करेंगे। उनका विश्वास है या यों कहिये कि उन्हे ऐसा विश्वास करा दिया गया है कि तर्क और बुद्धिवाद का धर्म से कोई सम्बन्ध नही है। उनके विचार में भक्ति और तर्क दो विरोधी वस्तुएं है जो एक साथ नही ठहर सकती। अतः वे इस व्यर्थ के विवाद मे पड़ कर अपनी चिरसंचित भक्ति भावना को ठेस नही पहुँचाना चाहते।

जो कुछ उनके पूर्वज परम्परा से करते चले आ रहे है, उसी से वे सन्तुष्ट है। आप यदि उनसे इस विषय पर अधिक विचार विनिमय करने का प्रयत्न करे तो वे सरलता पूर्वक अपनी अनभिज्ञता स्वीकार कर लेगे। इन महानुभावो की अवस्था उस व्यक्ति जैसी है जो अन्धकार मे भटक रहा हो और उसी मे सतुष्ट हो। ऐसे लोगो के सम्बन्ध मे आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० ने बड़ा सुन्दर लिखा है:—

"He is in the dark and wishes to remain in the dark. He does not want light. If you throw any beam of light upon him by interrogation, he resents it and shudders at it. He feels that mental analysis might make him a renegade and therefore he avoids it. Not that he cannot reason. Among idolators you will find best lawyers whose legal acumen is awe inspiring; Professors of logic whose fallacy detecting capacity is unquestionable; Shrewd politicians who clearly see the invisible forces working in the domain of world politics ; traders from whose keen eye no corner of the world market is hidden ; financiers who can successfully combat the dodges of exploiters; astronomers whose knowledge of the heavenly bodies is much more clear than of their own house ; and mathematicians wellversed in the intricacies of mathematical calculations. They are

all intellectuals and you will find them worshiping in temples as devoutly as their uneducated brothers and sisters—side by side with them, and as vaguely too"

वह (मूर्तिपूजक) अन्धकार मे है और उसी मे रहना चाहता है। वह प्रकाश का इच्छुक नही। यदि आप बातचीत करके इस सम्बन्ध मे उसे बतलाना चाहें तो वह उसे रुचिकर न होगी और वह उससे घबरायेगा। उसे भय है कि इस प्रकार की बौद्धिक छानबीन उसे अविश्वासी न बनादे और इसलिये वह उससे बच निकलने का प्रयत्न करता है। इसका कारण यह नही है कि वह तर्क-वितर्क की योग्यता नही रखता। मूर्तिपूजकों मे आपके सर्वोत्तम वकील जो चकित करने वाली तीव्र तार्किक बुद्धि रखते है, तर्कशास्त्र के उपाध्याय जो सूक्ष्म हेत्वाभास को ढूंढ निकालने की क्षमता रखते है, तथा चतुर राजनीतिज्ञ जो संसार के राजनीतिक क्षेत्र मे गुह्य से गुह्य कार्य करने वाली शक्तियों का सहज में साक्षात् कर लेते है, मिलेंगे। उनमे आपको वाणिज्य कुशल व्यापारी जिनकी दृष्टि मे संसार की किसी मण्डी का कोई कोना छिपा हुआ नही है, अर्थशास्त्री जो शोषक वर्ग की चालो का सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकते है, ज्योतिष-विद्याविशारद जिनको आकाशस्थ ग्रह, उपग्रहों का अपने गृह से भी कही अधिक परिज्ञान है तथा गणितज्ञ जिन्हे गणित के सूक्ष्म तत्वो पर पूर्णाधिकार है, पायेंगे। यह सब बुद्धि विशेषज्ञ है। परन्तु इन्हे मन्दिरो मे आप अनपढ़ लोगों के साथ वैसी ही भक्ति-भावना तथा अनिश्चित बुद्धि से मूर्तिपूजा करते देखेंगे।

है। किन्तु मन्दिरों मे आप ऐसे लोगों को ठीक उसी ढग से जो कि सर्व साधारण की विधि है—पूजा करते पायेंगे। उनका समस्त तर्क-वितर्क केवल वाणी तक ही सीमित है, कार्यरूप में उनमें और साधारण मूर्तिपूजक मे आप कोई अंतर नही देखेगे। इन लोगो का कार्य ठाली वैठे युक्तियो का ताना-वाना बुनना ही है, जिनके द्वारा यह मूर्तिपूजा को एक दार्शनिक रूप देने का असफल प्रयत्न किया करते हैं।

उपर्युक्त कोटि मे कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो मूर्तिपूजा के दोपो को भली भाति समझते हुए भी स्वार्थवश उसके रक्षार्थं ऐसी अर्थहीन युक्तिया प्रस्तुत किया करते है। और कभी कभी उसे स्वीकार भी कर लेते हैं, किन्तु जीविका के कारण विवश है। ऐसी ही युक्तियो पर यहा इस अध्याय मे विचार किया जायगा।

(१)

"ईश्वर अनन्त है और हम सान्त है। सान्त जीव अनन्त परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने में अशक्त है। मूर्ति द्वारा हम उसे एक सीमित कोटि में ले आते हैं जिससे हमे उसका कुछ आभास हो सके।'

जो परमात्मा अनन्त है वह सदा अनन्त ही रहेगा उसे मूर्ति मे परिमित करने को कल्पना ही हास्यास्पद है। जो वस्तु जैसी है वैसी ही मानना और जानना ज्ञान है। उससे भिन्न विपरीत अज्ञान है। उपासना का अर्थ ही उस अनन्त की खोज है। मूर्ति द्वारा हम मूर्ति का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे समक्ष है, उस अनन्त परमात्मा का नही। यह समझ लेना कि मूर्ति द्वारा हम उस अनन्त का साक्षात करते है, एक भ्रम है। फिर एक मूर्तिपूजक सदा मूर्तिपूजक रहता है आजतक किसी को भी एक पग आगे बढ़ते नही देखा।

यह कहना कि सान्त जीव को अनन्त परमात्मा का परिज्ञान नहीं हो सकता एक शाब्दिक जाल है। एवं "अनन्त परमात्मा सान्त जीव के जान लेने पर सान्त ठहरेगा" यह भी असत्य है। परमात्मा अनन्त है यह समझ लेना ही उसके अनन्तत्व का पूर्ण ज्ञान है। एक पक्षी आकाश का अन्त पाने की इच्छा से उड़ान भरता है किन्तु जब वह उसे न पाकर थक जाता है तो समझता है कि वह अनन्त है। ठीक इसी प्रकार जब जीव परमात्मा का अन्त न पाकर थक जाता है तो वह उसके अनन्तत्व का अनुभव करता है। और वही उस अनन्त ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान है। उपासना का उद्देश्य परमात्मा को जानना है। उसका उद्देश्य यह कभी नहीं है कि हम उसके सम्बन्ध में सब कुछ जानलें। हमें तो उसके सम्बन्ध में उतना ही ज्ञान प्राप्त करना है जितना कि जीव के उत्थान के लिये अपेक्षित है, परमात्मा सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान न हम प्राप्त कर सकते हैं और न उसकी हमें आवश्यकता है। परमात्मा अनन्त है अत: हम उसे जान ही नहीं सकते, इस प्रकार की असत्य भावना लोगों में उत्पन्न करके उन्हें निरुत्साहित करना बड़ा पाप है। हम उस परमात्मा को बुद्धिबल तथा आत्मबल दोनों ही से जान सकते हैं अत: जहाँ यह कहना कि हम उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जान सकते, असत्य है, वहाँ यह भी असत्य है कि हम उसके सम्बन्ध में सब कुछ जान सकते हैं।

(२

"ईश्वर निराकार है, निराकार के दर्शन नहीं हो सकते। अत: हम उसकी मूर्ति बना लेते हैं। जिससे हमारी दर्शन-लालसा पूरी होसके।"

जब परमात्मा निराकार है तब उसकी साकार मूर्ति बनाई ही कैसे जा सकती है। चित्र अथवा प्रतिमा किसी साकार वस्तु

ही की हो सकती है। जो वस्तु हमको दिखाई पड़ती है वह भी आकार वाली होती है । अत जिस आकृति को हम देखते है वह मूर्ति की है ईश्वर की नही। जो रूप रङ्ग का आकार हमे दिखाई पड़ रहा है वह उस मूर्ति का है, परमात्मा का नही। इस प्रकार मूर्ति-दर्शन मूर्ति-दर्शन ही रहेगा, ईश्वर-दर्शन नही । जो लोग मूर्ति के दशन करके यह समझते है कि उन्होने परमात्मा के दर्शन कर लिये, वह गहरे अन्धकार मे है। धर्मशास्त्र मे जहाँ ईश्वर-दर्शन का उल्लेख है, वहाँ दर्शन शब्द से तात्पर्य ज्ञान चक्षुओ द्वारा दर्शन अर्थात् आत्मबोध से है। चम चक्षुओं द्वारा देखने का नही। यह बडे दु:ख और आश्चर्य का विषय है कि मनुष्य उस परमात्मा को देखने के लिये उन्मत्त हैं जिसे वह इन चर्म चक्षुओ से देख नही सकता, उसे सुनना चाहता है जिसे इन कानो से सुन नही सकता । उपनिषद् उसे "अशब्दम-स्पर्शमरूपमव्ययम्" (कठोपनिषद्) अर्थात् वह शब्द, स्पर्श, रूप का विषय नही है और न उसे विभाजित किया जा सकता है, स्पष्ट रूप से उद्घोषित कर रहे हैं। ईश्वर-दर्शन के नाम पर मानव समाज मे विभिन्न सम्प्रदायो ने बड़ा भ्रम उत्पन्न किया हुआ है। पुराणो मे ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें ईश्वर का सशरीर भक्तो द्वारा दर्शन करने का उल्लेख है। अनेक सन्तो के सम्बन्ध मे तो ऐसी दन्तकथाओ की कमी ही नही। अमुक भक्त अड गया कि वह तो परमात्मा के सशरीर ही दर्शन करेगा, विवश होकर ईश्वर को दर्शन देने पडे, इत्यादि इत्यादि । इसी प्रकार कुरान मे भी मुहम्मद साहब का बुर्राक घोडे पर चढ कर स्वर्ग मे जाकर ईश्वर से वार्तालाप करने का वर्णन है। परन्तु ये समस्त कल्पनाए है और ईश्वर के वास्तविक रूप को न समझने का परिणाम हैं। बहुत लोग इसी भ्रम मे पडकर स्वार्थी लोगो द्वारा ठगे जाते है। जब हम अपनी आँख बन्द करके बाह्य जगत्

को देखना बन्द कर देते हैं, उस समय भी हमारे चक्षुओं के देखने की शक्ति विद्यमान रहती है और उनकी वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। निरन्तर अभ्यास से मनुष्य एक धुंधला-सा प्रकाश अपने अन्दर देखने लगता है। साम्प्रदायिक गुरुजन इसे ही ईश्वरीय प्रकाश बताकर लोगो को ठगते हैं। इसी प्रकार जब हम कान को अंगुलियो अथवा रुई आदि से बन्द कर लेते हैं तो बाह्य शब्द न सुनकर हमारे कान आन्तरिक शब्दो से गूंजने लगते है। इसको भी ईश्वरीय शब्द बताकर 'अनहद' आदि न जाने कितने नाम रख लिये हैं। किन्तु वह रूप और शब्द दोनो ही भौतिक हैं। इन्हें ईश्वरीय बताना मनुष्य समाज को पथभ्रष्ट करना है। स्वप्नों के सम्बन्ध मे भी लोगो मे ऐसा ही अज्ञान फैला हुआ है। जब मनुष्य किसी मूर्ति अथवा चित्र को सन्मुख रखकर उसका निरन्तर अभ्यास करता है तो मूर्ति अथवा चित्र की प्रतिच्छाया-सी प्रायः उसके सन्मुख बनी रहती है और वह उसे स्वप्नावस्था मे देखता है। कभी कभी अधिक अभ्यास से मस्तिष्क की एक प्रकार की विकृतावस्था के कारण जागृत दशा में भी वह उसका भान करता है। इसे भी लोग ईश्वर अथवा उस देवता-विशेष के दर्शन का नाम दे दिया करते हैं परन्तु यह सब भ्रम है। ईश्वर के वास्तविक रूप का जब तक जन साधारण में प्रचार नहीं किया जाता, इस प्रकार की मनोवृत्ति स्वार्थी अथवा मूर्ख लोग उत्पन्न करते ही रहेंगे।

(३)

"यह सत्य है कि मूर्तियां ईश्वर की आकृति नहीं है, तथापि मन को एकाग्र करने के लिये उनकी उपयुक्तता तथा आवश्यकता है। चञ्चल मन साकार वस्तु में ही स्थिर हो सकता है निराकार मे नहीं। यही कारण है कि हिन्दू लोग राम, कृष्ण आदि की मूर्ति

वनाकर उनकी पूजा करते है।" इस सम्बन्ध में 'मूर्तिपूजा और योग साधन' अध्याय मे बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यह भावना सर्वथा निराधार और असत्य है कि मन निराकार में स्थिर नही हो सकता, अतएव उसके लिये साकार मूर्ति की आवश्यकता है। समस्त साकार पदार्थ रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध विषययुक्त होते हैं। और मन की चचलता का कारण भी यही विषय होते ह यदि साकार पदार्थ मे मन स्थिर होता तो ससार मे सब ही का मन स्थिर हो गया होता। क्योकि समस्त ससार ही साकार है। परन्तु इसके विपरीत ज्यो-ज्यो मनुष्य साँसारिक पदार्थो मे फँस जाता है वैसे ही वैसे इसके मन की चचलता बढती जाती है। मन की चचलता तो उस समय दूर होती है कि जब वह निर्विषय होकर ईश्वर का चिन्तन करता है। अत मूर्ति कभी भी मन स्थिर करने का साधन नही हो सकती। मूर्तिपूजक मूर्ति मे सब ही विषयो की कल्पना करते है। रूप तो उसमे पार्थिव भाग होने के कारण विद्यामान है ही। जब उसका भोग लगाया जाता है तो 'रस' की भी कल्पना कर ही ली। पुष्प चढाना और धूप देने के अर्थ उसमे गन्ध शक्ति को स्वीकार करना है। मूर्ति के हाथ जोडना, साष्टाङ्ग दण्डवत् करना तथा उसकी स्तुति प्रार्थना यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि उसके उपासक यह समझते हैं कि वह उनकी इस समस्त क्रिया कलाप को देखती और सुनती है अतएव एक ऐसी वस्तु जिसमें सभी विषयो की कल्पना करली गई है मन को एकाग्र करने का साधन कैसे हो सकती है?

राम और कृष्णादि महान् पुरुष जिनको लोग भूल से ईश्वरावतार समझते है, जब जीवित थे तो स्वय सन्ध्या-वन्दना द्वारा निराकार परमात्मा की उपासना करते थे। अपने निकट रहने वाले बन्धु-बान्धवो की मानसिक चचलता को दूर करने में

असमर्थ रहे। स्वय राम का मन सीता के वियोग में अधीर हो गया था। अर्जुन कृष्ण के उपस्थित होते हुए दर्शन मात्र से अपनी मानसिक अस्थिरता को दूर न सका। यादव कृष्ण के नित्य दर्शन करते रहने पर भी विनष्ट हो गये। फिर यह कौन मान सकता है कि उनकी मूर्ति के दर्शन स्पर्श अथवा पूजा से हमारा आत्म उत्थान हो सकेगा। गीता मे अर्जुन ने कृष्ण महाराज को सम्बोधन करके कहा है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४ अ० ६

हे कृष्ण ! निश्चय ही मन बडा चञ्चल है यह शरीर और इन्द्रियों का मथन कर डालता है। बड़ा बलवान तथा दृढ़ है। उसका निग्रह मेरी दृष्टि मे वायु के समान अति कठिन है। श्रीकृष्ण उसका यह उत्तर नही देते कि मैं तेरे सन्मुख उपस्थित हूँ मुझ मे अपना मन स्थिर करले। उसकी चञ्चलता दूर हो जायगी। किन्तु वे कहते है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

हे महाबाहो अर्जुन ! इसमे सन्देह नही कि मन चञ्चल होने के कारण बड़ी कठिनाई मे वश मे किया जाता है। यद्यपि अभ्यास और वैराग्य से इसे वश में किया जाता है। जब साक्षात कृष्ण के साथ रहते हुये अर्जुन का मन स्थिर नही हुआ तो उनकी मूर्ति एक उपासक के मन को किस प्रकार स्थिर कर सकती है ?

देखने से उनमे व्यापक परमात्मा और उसकी महिमा का ज्ञान नहीं हो जाता।"

जिस भौतिक पदार्थ की वह मूर्ति बनी है वह निःसन्देह परमात्मा की रचना है किन्तु मूर्ति मूर्तिकार की बनाई हुई है, परमात्मा की नही। किसी चित्र अथवा मूर्ति को देख कर हमारा ध्यान उसके बनाने वाले मूर्तिकार पर जाता है जिसकी वह कृति है, किन्तु उस परमात्मा पर नही जिसने उन सुन्दर रङ्गो की रचना की है, जिनसे कि यह चित्र बना है और न उस पत्थर अथवा धातु पर जिसके बिना उस मूर्ति का निर्माण असम्भव है। इसका एक कारण है! हम एक सुन्दर चित्र को देख कर चित्रकार की कला की इसलिये प्रशसा करते हैं कि उसने उस प्राकृतिक पदार्थ का जिसका वह चित्र है सादृश्य प्राप्त करने की चेष्टा की है। अन्यथा वह चित्र उस पदार्थ विशेष से जिसका कि उसमें चित्रण किया गया है, सुन्दर नही होसकता। क्या एक फूल का चित्र वास्तविक फूल की सुन्दरता प्राप्त कर सकता है? कदापि नही। अतः यह अस्वाभाविक नही है कि किसी चित्र अथवा मूर्ति को देख कर हमारा ध्यान प्रथम उसके बनाने वाले कलाकार पर जाता है, परमात्मा पर नही।

ईश्वरीय बोध प्राप्त करने के लिये हमे उसको प्राकृतिक रचनाओं का जिनमे मनुष्य ने हस्तक्षेप नही किया अवलोकन करना चाहिये। क्या तारागणो से भरा आकाश उसकी महानता का परिचय देने के लिये पर्याप्त नही है? क्या सूर्य, चन्द्र, लोक-लोकान्तर की अद्भुत रचना उनके रचयिता का बोध कराने की क्षमता नही रखतो? क्या सुन्दर वृक्षों और रङ्ग-बिरङ्गे फूलो से लदे जङ्गल और पर्वत हमारा ध्यान उस विचित्र कलाकार की ओर आकृष्ट नही कर सकते? सत्य तो यह है

कि उस महान् प्रभु का स्मरण कराने के लिये छोटा—सा फूल ही पर्याप्त है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब हमारे चर्म चक्षुओं के साथ हमारे ज्ञान चक्षुओ का भी सहयोग हो।

यह युक्ति भी, कि मूर्ति को देखने से उसमे व्यापक परमात्मा की महिमा का ज्ञान होता है, सर्वथा निराधार है। दूध में घृत है किन्तु देखने वाले को यह दिखाई नही देता। तिलो मे तेल विद्यमान है परन्तु क्या वह किसी को दिखाई पडता है ? व्याप्य को देख कर व्यापक का इन चर्म चक्षुओ से कभी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। उसके लिए ज्ञान चक्षुओ की आवश्यकता है। किन्तु वह तभी सम्भव है जब हमारी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हों। मूर्ति पूजा से हमारी समस्त वृत्तियाँ बहिर्मुख होती हैं, उसके द्वारा ईश्वर का हमें कभी भी बोध नही हो सकता। उस प्रभु की महिमा का दिग्दर्शन यदि किसी को करना है तो नित्य उदय होकर समस्त संसार का अवलोकन करने वाले सूर्य को देखे। यदि आप ग्रामीण है तो बसन्त ऋतु मे फूलों से लदे सरसो के खेतो का अवलोकन कीजिए। अगर आप नागरिक हैं तो नगर के किसी उद्यान में जाकर खिले हुए फूलो के अद्भुत रूप रङ्ग का सूक्ष्म निरीक्षण कीजिए। फूल की एक पङ्खडी ही उसकी अपार महिमा का प्रदर्शन करने की क्षमता रखती है। एक साधारण मूर्तिकार द्वारा गढी गई मन्दिर की भद्दी मूर्ति उसकी महिमा का क्या परिज्ञान करा सकती है।

(५)

"जब ईश्वर सर्वव्यापक है तो मूर्ति में भी है। हम मूर्ति की पूजा नहीं करते अपितु उसमे व्यापक परमात्मा की पूजा करते हैं।"

उपर्युक्त युक्ति केवल कथन मात्र है। एक मूर्ति पूजक का व्यवहार इसके सर्वथा विपरीत होता है। यह सत्य है कि ईश्वर सर्वव्यापक होने के कारण मूर्ति मे भी है। परन्तु व्यापक होने से प्रत्येक व्याप्य वस्तु पूजनीय नही हो जाती। परमात्मा फूल मे है फिर उसे मूर्ति पर क्यो चढाया जाता है ? जल में है फिर स्नान क्यो कराते हो ? चन्दन मे है फिर मूर्ति पर चन्दन क्यो लगाते हो ? भोजन में है—भोग क्यो लगाते हो ? हाथो मे है हाथ क्यो जोडते हो ? अतः एक मूर्तिपूजक का लक्ष्य मूर्ति मे व्यापक परमात्मा की उपासना होता तो वह उपर्युक्त समस्त क्रियाकलाप का आश्रय न लेता। वह मूर्ति को ईश्वर समझकर उसकी पूजा करता है उसमे व्यापक परमात्मा की नही। मूर्ति-पूजा के जन्मदाता स्वय पुराण इस युक्ति का स्थान-स्थान पर खण्डन करते है। भविष्य पुराण मध्यम प० अ० ७ का निम्न श्लोक देखिए:—

वासुदेवाग्रतश्चापि रुद्रमाहात्म्यवर्णनम् ।
रुद्राग्रे वासुदेवस्य कीर्तन पुण्यवर्धनम् ।।
दुर्गाग्रे शिवसूर्यस्त वैष्णवाख्यानमेव च ।
य. करोति विमूढात्मा गार्दभी योनिमाविशेत ।।

अर्थ स्पष्ट है—जो मनुष्य वासुदेव की मूर्ति के आगे शिव की स्तुति करता है और शिव के आगे वासुदेव का कीर्तन करता है, दुर्गा के आगे शिव, सूर्य या विष्णु की स्तुति करता है वह मूर्ख गधे की योनि मे जाता है। यदि मूर्ति पूजा का उद्देश्य मूर्ति मे व्यापक ईश्वर की पूजा होता तो एक देवता के समक्ष दूसरे देवता की स्तुति-प्रार्थना का निषेध पुराण न करते।

पूजा का उद्देश्य जीवात्मा और परमात्मा का मेल है। इसी मेल का नाम योग है। किन्तु मिलाप वही हो सकता है जहां

दोनों विद्यमान हैं, मूर्ति में परमात्मा अवश्य है किन्तु उपासक का जीवात्मा नही। ऐसा स्थान जहां जीव और ब्रह्म दोनों ही उपस्थित हो केवल मनुष्य का हृदय है। इसी हृदय मन्दिर में जीव उस ब्रह्म का साक्षात् कर सकता है। वेद और उपनिषद् इसी सत्य का निरूपण करते हैं।

वेनस्तत्पश्यन् मनसा गुहायाम्। यजु० ३२। ८

विद्वान पुरुष परमात्मा को हृदय में देखते है।

तमात्मस्थमनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्। १२ पञ्चम वल्ली कठोपनिषद।

जो धीर पुरुष जीवात्मा में स्थित परमात्मा को देखते हैं, उनको चिरकाल तक रहने वाला सुख प्राप्त होता है, अन्यो को नही।

(६)

'विद्वान और ज्ञानियों के लिये चाहे मूर्ति पूजा की उपयुक्तता न हो परन्तु जन साधारण के लिये उसकी आवश्यकता है। पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के प्रसार से शिक्षित हिन्दू युवक दिनों दिन ईश्वर और धर्म से विमुख होता चला जा रहा है। यदि मूर्ति पूजा और मन्दिरों को हटा दिया गया तो हिन्दुओं की ईश्वर और धर्म में अवशिष्ट श्रद्धा और भी नष्ट हो जायगी और लोग नास्तिक बन जायेंगे। अतः मूर्तिपूजा को जीवित रहने देने की आवश्यकता है। न होने से कुछ होना अच्छा है।'

मूर्ति पूजा को जन साधारण के लिये उपयुक्त बताना और उसके लिए उसे जीवित रखने की युक्ति एक उल्टी बात है। मूर्ख को शिक्षा न देकर मूर्ख ही रखना एवं रोग की चिकित्सा न करके उसे बनाए रखने का प्रयत्न यदि उचित है तो इस युक्ति का भी औचित्य स्वीकार किया जा सकता है। जन साधारण में धार्मिक

भावनाओं का अभाव नही है। मनुष्य की स्वभाव से ही धार्मिक प्रवृत्ति होती है। यदि उन्हे ईश्वरोपासना की सच्ची विधि का परिज्ञान करा दिया जाय तो वे धीरे-धीरे उन्नतावस्था को प्राप्त कर सकते है। परन्तु पाधा, पण्डे और पुजारी न जाने कितनो का स्वार्थ इस कार्य मे बाधक है। यह लोग इन्हे अन्धकार मे रखने का प्रयत्न करते रहते है। उन्हे उपदेश दिया जाता है कि मूर्ति के हाथ जोड़ो और अपना चढावा उसके अर्पण करदो। बस यही पूजा है। इसी उद्देश्य से तीर्थों के पन्डे सैकड़ो मील से यात्रियो का पीछा करते हैं। क्या इसी का नाम धर्म है जिसके लिये मूर्ति पूजा को जीवित रखने की आवश्यकता है? क्या इसी प्रकार के ईश्वर-विश्वास से हिन्दू समाज की रक्षा हो सकती है?

ईश्वरोपासना और धर्म का उद्देश्य मनुष्य की आत्मा और वुद्धि को ऊँचा उठाना है। परन्तु मूर्ति पूजा एक ऐसी विधि है जो मनुष्य समाज को सदा मूर्ख बनाए रखना चाहती है। यह उपासक को अन्ध विश्वासी और भीरु बना देती है। यही कारण है कि शताब्दियो के अज्ञान और अन्धकार के पश्चात् भी जन-साधारण का जीवन मूर्तियो के निरन्तर सम्पर्क मे रहने वाले पण्डे पुजारियो से आज श्रेष्ठतर है। सबसे बड़ी हानि जो एक मूर्तिपूजक कर रहा है, उसकी अपनी निजी हानि है। वह एक असत्य मार्ग पर जा रहा है और उसी मे सन्तुष्ट है। वह समझता है कि मै ईश्वर की पूजा कर रहा हूँ और अपने समस्त जीवन को इसी अन्ध विश्वास मे व्यतीत कर देता है। वास्तविक हानि जो इससे हो रही है वह सर्व साधारण की है। शिक्षित समुदाय अपने बुद्धि-बल से इन पण्डों और पुजारियो से अपनी रक्षा करते रहते हैं। किन्तु हमारा अशिक्षित समुदाय ही है जो इनके द्वारा बुरी तरह लूटा जाता है। क्या उनके लिए

मूर्तिपूजा का यही उपयोग है? मुसलमान, ईसाई, मूर्तिपूजक नहीं हैं। क्या इनका साधारण जन-समाज नास्तिक है? सत्य तो यह है कि इनकी आस्तिक भावना हिन्दुओं से कहीं अच्छी है। मूर्तिपूजा स्वयं नास्तिकता है। अतः यह समझना कि इसके द्वारा आस्तिक भावना जीवित रह सकती है एक दूसरा भ्रम है। जिस प्रकार एक राज सत्ता की विद्यमानता मे दूसरी सत्ता की आधीनता एवं आज्ञा पालन राज विद्रोह है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर की उपस्थिति मे जड़ मूर्ति को ईश्वर समझना और पूजना ईश्वर विद्रोह है, और उसी का दूसरा नाम नास्तिकता है। यदि शिक्षित युवक समाज आज ईश्वर और धर्म से ऊब कर नास्तिकता की ओर जा रहा है तो उसका कारण भी इसी प्रकार के कल्पित ईश्वर और उसकी पूजा का विधि-विधान है।

हमने ईश्वर और धर्म के कल्पित और असत्य रूप का प्रचार किया, यह उसी का फल है। मूर्तिपूजा से हिन्दू जाति को जो हानि हुई है उसका वर्णन हमने इस पुस्तक मे स्थान-स्थान पर किया है। अतः हम यहाँ उसकी पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते। यह ठीक है कि न होने से कुछ होना अच्छा है किन्तु उसके औचित्य-अनौचित्य पर भी तो हमे विचार करना है। यदि उससे हमारा अनिष्ट होता है तो उससे न होना कहीं अच्छा है। कोई इसलिये किसी विषैले पदार्थ को नहीं खाएगा, क्योंकि उसके पास खाने के लिये कोई सामग्री नहीं थी। और यदि वह ऐसा करता है तो उसकी मृत्यु निश्चित है। मूर्तिपूजा एक उलटा मार्ग है। इस पर चल कर हम अपने अभीष्ट को कभी प्राप्त नहीं कर सकते। यह हमको अपने निर्दिष्ट स्थान से सदा दूर ही ले जायगी।

(७)

"मूर्ति चाहे हम ईश्वर की न मानें किन्तु यदि हम उसमें ईश्वर की भावना करले तो फल अवश्य मिलेगा। मनुष्य की जैसी भावना होती है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है। कहावत भी है "मानो तो देव नही तो पत्थर है।"

भावना की भी हिन्दुओ मे बडी विचित्र युक्ति है जिसे आप सर्वत्र सुनेंगे। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही मानना और जानना 'भाव' है। इससे भिन्न अभाव। भावना मात्र से किसी वस्तु की वास्तविकता नही बदली जा सकती। चूने के पानी में जानकर या न जानकर दूध की भावना करली जाय तो क्या उससे मक्खन निकल सकता है? बालू में शक्कर की भावना करने से क्या मुंह मीठा हो जायगा? इसी प्रकार जल में अग्नि की भावना करने से हमारा शीत कभी दूर नही हो सकता। संसार का प्रत्येक मनुष्य सुख की भावना करता है, दुःख की कभी कोई नही करता किन्तु फिर भी लोग दुखी दिखाई पडते है। प्राय: देखा जाता है कि बहुत से रोगी भूल से अपने रोग की औषधि के स्थान पर विषपान कर जाते हैं फलतः उनकी मृत्य हो जाती है। औषधि मे उनकी भावना स्वस्थ होने की थी पुनः मृत्यु क्यों हुई? प्रत्येक वस्तु का गुण-दोष विपरीत भावना करने पर भी उससे दूर नही होता। पत्थर में देवता की भावना करने पर भी वह पत्थर रहेगा। न उसमें चेतना आ सकती है और न वह हमारा हित अथवा अनहित कर सकता है।

देश के सहस्रो मन्दिरो और मूर्तियो का विध्वंस इसका जीता-जागता उदाहरण है। प्रत्येक हिन्दू की यह भावना थी कि यह देवता हैं, और हमारी रक्षा करेंगे, परन्तु परिणाम इसके विपरीत निकला। मूर्तियाँ तोड़ी गईं, मन्दिर लूटे गए, और हमारी जो दुर्दशा हुई उसका इतिहास साक्षी है। किन्तु हमारे विश्वास ने हमारी कुछ भी सहायता न की।

(८)

"मूर्ति को चाहे ईश्वर समझ पूजा न की जाय, किन्तु शान्त, वीतराग और महापुरुषों की मूर्ति देखकर मन पर प्रभाव पड़ता है और चित्त को शान्ति मिलती है। यही कारण है कि मूर्ति अथवा मन्दिर को देखते ही हमारे अन्दर श्रद्धा और भक्ति की भावना जागृत हो जाती है।"

किसी मूर्ति को देखकर हम पर उसका प्रभाव उसी समय पड़ता है, जब पूर्व से ही हमारे मन में उसके प्रति कुछ संस्कार विद्यमान हों। यह संस्कार उसी समय उत्पन्न हो सकते हैं, जब उसके सम्बन्ध में कुछ परिचय हो चाहे वह पढने से हो अथवा सुनने से। इन्ही संस्कारों से जो भाव उत्पन्न होते हैं, श्रद्धा अथवा अश्रद्धा उसी का परिणाम होता है। हमारे यदि भाव अच्छे हैं तो हम श्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे, और यदि बुरे हैं तो अश्रद्धा उत्पन्न होगी। हिन्दू जिस मूर्ति को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, एक मुसलमान या ईसाई उसी को अश्रद्धा और घृणा की दृष्टि से देखता है। यदि केवल मूर्ति देख कर ही मन पर प्रभाव पड़ता तो मुसलमान भी प्रभावित होते। किन्तु ऐसा नही होता। हिन्दू परिवारों में जन्म से ही इन मन्दिर और मूर्तियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भाव उत्पन्न कर दिये जाते हैं। नगरों में सरकारी उद्यानों में अंग्रेज सम्राटों की मूर्तियाँ लगी हुई हैं किन्तु उन्हें देख कर कोई हिन्दू हाथ नहीं जोड़ता और न साष्टाङ्ग दण्डवत करता है। न उसे देखकर उसके हृदय में श्रद्धा और भक्ति ही उत्पन्न होती है। यदि एक हिन्दू बालक में इसी प्रकार संस्कार न डाले गये होते तो मूक, निरीह और निःसहाय पशुओं के रक्त से रन्जित काली की विकराल मूर्ति उसके हृदय में ग्लानि और घृणा के अतिरिक्त कोई भी अन्य भाव उत्पन्न नहीं करती। भैरव की भयानक

मूर्ति, शिवलिङ्ग की लज्जास्पद आकृति भय और लज्जा के अतिरिक्त क्या कभी श्रद्धा और भक्ति के भाव उत्पन्न कर सकेगी ? अतः ये हमारे सस्कार हैं, जो एक मूर्ति अथवा मन्दिर को देख कर हमारे अन्दर श्रद्धा और भक्ति का भाव उत्पन्न करते है।

(६)

"मूर्तिपूजा अपने महान पूर्वजों की पूजा है। क्या महापुरुपो की पूजा भी पाप है ? सभी जातियाँ अपने पूर्व महापुरुषो की किसी न किसी रूप मे पूजा करती हैं। मुसलमान और ईसाइयो में भी इस प्रकार की पूजा प्रचलित है। इससे सिद्ध है कि मूर्तिपूजा मनुष्य के हृदय मे बीजरूप से विद्यमान है, और उसे उससे सर्वथा दूर नही किया जा सकता।"

इस पर विचार करने से पूर्व मूर्ति और पूजा इन दो शब्दों को भली भाँति समझ लेना चाहिये। आकार व शरीर वाली वस्तु को मूर्ति कहते हैं। उसके दो प्रकार हैं—जड़ या चेतन। समस्त जीवधारी चेतन मूर्तिंया हैं और चेतना रहित जड़ पदार्थ जड़ मूर्तियां है। पूजा का अर्थ आदर—सत्कार है। व्यावहारिक रूप में इसके अर्थ उचित व्यवहार और रक्षा के भी हैं। अतः जब हम यह कहते हैं कि माता, पिता, गुरु आदि हमारे पूज्य हैं, अथवा हमें उनकी पूजा करनी चाहिए, तो इसका अभिप्राय उनकी अन्न जल वस्त्रादि से सन्तुष्टि तथा सेव-सुश्रूषा एवं आज्ञापालन द्वारा उन्हे सुखी रखनां है। किन्तु एक जड़ वस्तु की पूजा उनकी उचित रक्षा एवं व्यवहार ही है, उसके हाथ जोड़ना, स्तुति करना अथवा भोग लगाना नही, क्योकि न वह सुनती है, और न खाती है। इसलिए एक मूर्ति की चेतन की भांति पूजा करना एक ज्ञानशून्य कृत्य है। हिन्दू गङ्गा नदी की आरती उतारते हैं, स्तुति करते हैं,

जल में दूध चढ़ाकर उसे नष्ट करते हैं। रेलगाडी जब पुल पर से जाती है तो उसमे से पैसे फेंकते हैं किन्तु बाढ़ आने पर वही गङ्गा उनके गामो के ग्राम बहा ले जाती है। अङ्गरेज लोगों ने हिन्दुओ की भाँति उसकी पूजा नही की किन्तु नहर तथा बिजली आदि बना कर उसका सदुपयोग किया, और लाभ उठाया है। अब कहिए गङ्गा ने किस पर कृपा की ? हिन्दुओ की प्रचलित मूर्तिपूजा को पूर्व पुरुषो की पूजा बताना या समझना या तो इन दोनो के भेद को न समझना है, अथवा वाक् छल है। पूर्व पुरुषो की पूजा अथवा उनकी मूर्ति वा चित्र का यथायोग्य व्यवहार कोई पाप नही है। आप उनके चित्रो से अपने स्थानों को सुसज्जित कीजिए, उनकी मूर्तियाँ (Statues) रखिये अथवा सार्वजनिक स्थानों पर उनकी स्थापना कीजिए जिससे उनको देखकर उनके आदर्श जीवन एवं सदुपदेशों की स्मृति हो सके और उनके पदचिन्हों पर चलने का प्रोत्साहन मिल सके। किन्तु उनके प्रति चेतन जैसा व्यवहार—मानो जीवित है—अथवा उन्हे ईश्वर समझ बैठना और ईश्वर के स्थान मे पूजना अज्ञान और नास्तिकता है। मुसलमान मूर्ति पूजा के विरोधी होने हुए भी काबा के काले पत्थर (संगे असवद) को चूमते हैं और इसके प्रति श्रद्धाभाव रखते हैं। अरब के मुसलमान भी जैसा पूर्व लिखा जा चुका है, मूर्ति पूजक थे। उनकी उपासना विधि (नमाज) मे सिर झुकाना (सिजदा) यह सिद्ध करता है कि केवल उनके सामने की मूर्ति हटाली गई है, किन्तु प्रकार वही रहा है। इस भांति इनके पुराने संस्कार किसी न किसी रूप मे चले आ रहे हैं। इसी प्रकार इन्होने जीवन-मृत्यु के प्रश्न को भी नहीं समझा। वे समझते हैं कि मृत्यु के पश्चात् शरीर के साथ आत्मा भी कब्र में रहता है और वहीं क़यामत तक वे अपने

पूर्वजों की कब्रों पर स्तुति और प्रार्थना करते हैं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी मुसलमान एकेश्वरवादी हैं, और ईश्वर के स्थान पर किसी दूसरे की पूजा नही करते।

रोमन कैथोलिक ईसाई, ईसा, मरियम आदि की पूजा करते हैं किन्तु प्रोटेस्टैण्ट ईसाई उसे ईसाई धर्म के विरुद्ध समझते हैं। ईसा ने स्वय मूर्तिपूजा का खण्डन किया है। कुछ योरुप-निवासियो में पुराने मूर्तिपूजा के संस्कार जीवित रहे और अन्य देवताओं के स्थान पर उन्होंने ईसा और उसकी माता मरियम की पूजा प्रचलित करदी।

जब किसी मनुष्य वा जाति के हृदय में प्रबल कुसंस्कार घर कर लेते हैं तो उन्हे निर्मूल करना कोई सरल बात नही है। किन्तु बुराई, बुराई ही है। पुरानी होने से उसके दोष गुणों में परिणत नही हो सकते। किसी रोग की भयङ्करता इसलिये कम नहीं हो जाती, क्योंकि उससे बहुत से मनुष्य पीडित हैं, ऐसा रोग तो महामारी है, और उसका शीघ्र से शीघ्र उन्मूलन होना चाहिए। योरुप, अमरीका आदि पाश्चात्य देशो मे बड़े-बडे नगरों के सार्वजनिक स्थानो मे उनके महापुरुषों की जिस भांति मूर्तियाँ स्थापित की गई है, वही महापुरुषों की मूर्तियों की उपयुक्त पूजा हैं। हमारे देश मे भी देश के नेताओ की इसी प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित करने को प्रथा चल पड़ी है। किन्तु यह उसी अवस्था में लाभप्रद है जब हम उनका उचित उपयोग करें। यदि राम कृष्णादि महान् पुरुषो की मूर्तियों की तरह इनका भी दुरुपयोग हुआ तो इससे भी हानि ही होगी। महात्मा गान्धी की मूर्ति और समाधि का कुछ ऐसा ही दुरुपयोग महात्मा जी की इच्छा और सिद्धान्तो के विरुद्ध उनके भक्तो द्वारा, जिनमें हमारे देश के बड़े-बड़े नेता भी हैं, प्रारम्भ हो चला है जिसे रोकने की बड़ी आवश्यकता है।

(१०)

"जब महापुरुषों की मूर्तियाँ देखकर हमें उनकी स्मृति हो जाती है तो राम, कृष्णादि की मूर्तियाँ देखकर जो ईश्वर के अवतार थे-परमात्मा की स्मृति क्यों नहीं हो सकती ?"

इसी पुस्तक में अन्यत्र यह सिद्ध किया जा चुका है कि न ईश्वर अवतार लेता है और न इसकी आवश्यकता है। राम, कृष्णादि महापुरुषों की मूर्तियाँ स्थापित करने में तो कोई हानि नहीं, किन्तु उन्हें जीवित पुरुषों की भाँति पूजना अथवा उनमें ईश्वर की भ्रान्ति रखना अज्ञान और पाखण्ड है। इससे देश और जाति की हानि है, लाभ कुछ नहीं।

(११)

"मूर्तिपूजा ईश्वर-प्राप्ति की प्रथम सीढी है।"

यह उपमा भी भ्रमपूर्ण है। सीढी पर चढकर मनुष्य उत्तरोत्तर ऊँचा उठता है। परन्तु मूर्तिपूजा जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं—पतन की ओर ले जाती है। इसके अतिरिक्त एक मूर्तिपूजक आजीवन मूर्तिपूजक ही बना रहता है। यह बात दूसरी है कि उनका विश्वास मूर्तिपूजा से किसी प्रकार स्वयं हट जाय अथवा हटा दिया जाय। चेतन प्राणिमात्र की निष्काम सेवा, विद्वान आप्त पुरुषों का आदर-सत्कार तथा सत्सङ्ग एवं यम नियमादि का पालन तो ईश्वर-प्राप्ति की सीढ़ियाँ हो सकती हैं किन्तु मूर्तिपूजा तो एक गहरी खाई है जो मानव समाज को रसातल की ओर ले जाती है। यह एक ऐसा अन्ध विश्वास है जो मानव-हृदय को पाषाण एवं बुद्धि को ज्ञानशून्य बना देता है।

(१२)

'वेदान्त का सिद्धान्त है कि सारा ही संसार ब्रह्म है। जब

सारा ही संसार ब्रह्म है पुनः मूर्ति को ब्रह्म मानने में क्या दोष है?"

यह सारा जगत् ब्रह्म है यह सिद्धान्त वेदान्त-दर्शनकार का नही है। वह जीव और ब्रह्म के भेद का बल पूर्वक प्रतिपादन करता है। हाँ, श्री शङ्कराचार्य का ऐसा मत था और उन्ही के अनुयायी जीव-ब्रह्म की एकता पर विश्वास रखते है। श्री माधवाचार्य ने अपने वेदान्त भाष्य मे इस सिद्धान्त का प्रबल खण्डन किया है। इस विषय का हमारे प्रस्तुत विषय से कोई सम्बन्ध नही हैं। इस सिद्धान्त को मान भी लिया जाय तो उपास्य और उपासक मे जब भेद ही नही तो उपासना किसकी ओर क्यों ? मूर्ति को ब्रह्म मानने और न मानने का तो प्रश्न ही उपस्थित नही होता। इस पर भी यदि इस सिद्धान्त के मानने वाले उपासना की आवश्यकता का अनुभव करते है तो श्री शङ्कराचार्य ने मूर्ति पूजा का स्वय खण्डन किया है। अतएव इस युक्ति का दोनों ही प्रकार से कोई महत्व नही रहता।

(१३)

"जिस प्रकार हमने निराकार अक्षरों के लिए साकार अक्षरों की कल्पना करली है और जिस भांति हम रेखागणित के आकार रहित बिन्दु की कल्पना एक सूक्ष्म बिन्दु लगाकर कर लेते हैं उसी प्रकार यदि निराकार ईश्वर के लिये साकार मूर्ति की कल्पना करले तो इसमें क्या हानि है ?"

कल्पना किसी वस्तु के अभाव अथवा अनुपस्थिति में की जाती है। साकार अक्षरों की कल्पना केवल निराकार अक्षरों या शब्दों के अभाव में उनकी पूर्ति के लिए की जाती है। यदि हमारे शब्द सर्वत्र और सदा सुने जाते तो हमें न साकार

अक्षरों की कल्पना की आवश्यकता थी, और न लेखनकला की। परमात्मा सर्वव्यापक और सार्वकालिक है, अत. उसके लिये किसी दूसरी वस्तु की कल्पना का प्रश्न ही नही उठता। यदि कहो कि दिखाई नही पड़ता इसलिए कल्पना करने की आवश्यकता है। परन्तु केवल दिखाई न पडने से किसी वस्तु का अभाव नही हो जाता। आकाश और शब्द दोनों ही दिखाई नही पडते परन्तु उनका अभाव नही है। कल्पित वस्तु मे और जिस वस्तु की वह कल्पना है कुछ सादृश्य होना चाहिए। अक्षर-विज्ञानवेत्ता जानते है कि साकार अक्षर निराकार अक्षरों की मूर्ति नही है अपितु उच्चारण के समय जो ओष्ठ आदि की आकृति बनती है उसकी ही कल्पना है और वर्तमान समस्त भाषाओं की वर्णमालाएँ उन्ही का अपभ्रंश रूप है। इसी प्रकार एक बिन्दु उसी समय तक रेखागणित के बिन्दु के सदृश समझा जायगा जब वह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो। एक बड़े गोलाकार चिन्ह को कभी कोई बिन्दु कहने या मानने के लिए उद्यत नही होगा। एक हाथी के बृहदाकार की आप पहाड़ से उपमा दे सकते हैं किन्तु एक जलाशय में उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, यद्यपि दोनो ही साकार हैं। ईश्वर और पाषाण-मूर्ति मे लेशमात्र भी सादृश्य नही है। मूर्तियां प्रायः निराकार ईश्वर की कल्पना करके बनाई भी नहीं गईं, अपितु मनुष्यों को ईश्वरावतार समझ कर उनकी कल्पना कर डाली गई है। निराकार शब्द आंख से नहीं देखा जाता, अपितु कान से सुना जाता है। सुविधा के लिए कानों के विषय को साकार अक्षरों की कल्पना द्वारा आंखों का विषय बना लिया गया है। परन्तु जो परमात्मा किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है उसे समझाने के लिए उसे किस इन्द्रिय का विषय बनाया जाए? वह तो केवल अनुभूति की ही वस्तु रह जाती है।

(१४)

"जिस प्रकार काल के निराकार होने पर भी साकार घड़ी से निराकार घड़ी का ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार मूर्ति द्वारा परमात्मा का ज्ञान हो सकता है।"

घड़ी एक यन्त्र है जिसके द्वारा हम सूर्य के सम्मुख पृथ्वी के एक बार घूमने से उत्पन्न होने वाले दिन और रात्रि के समय को माप करके उसका विभाजन कर देते है। घड़ी न काल की मूर्ति है और न जब तक सूर्योदय और सूर्यास्त के अनुसार उसे ठीक ठीक मिलाया जाय, काल का ज्ञान ही करा सकती है। बन्द घड़ी द्वारा समय-ज्ञान तो दूर, हम उससे समय का माप भी नहीं कर सकते। अत. घड़ी को किसी अंश मे सूर्य की मूर्ति तो कह सकते हैं, क्योकि उसका सारा क्रम सूर्य पर निर्भर है परन्तु वह निराकार काल की मूर्ति कदापि नही।

(१५)

"जैसे मानचित्र (नक्शा) को देख कर पहाड तथा नदी का ज्ञान बालको को हो जाता है इसी प्रकार मूर्ति को देख कर ईश्वर का ज्ञान हो जाता है।"

पहाड़, नदी, पृथ्वी आदि सभी साकार वस्तुये है। मानचित्र उनका लघु रूप है। यह असत्य तथा असभ्य कल्पना नहीं। किन्तु परमात्मा निराकार है, ऐसी अवस्था मे उसकी मूर्ति अथवा चित्र की कल्पना नहीं की जा सकती।

(१६)

"शब्द निराकार है किन्तु उसे ग्रामोफोन के रिकार्ड में भर कर मूर्तिमान बना लिया जाता है। इसी भाँति निराकार परमात्मा की भी मूर्ति क्यो नही बनाई जा सकती?"

शब्द, चाहे हम उसे कण्ठ से व्यक्त करे चाहे ग्रामोफोन के

(Sound box) शब्द यंत्र और रिकार्ड की सहायता से, वह निराकार ही रहेगा। अन्तर केवल प्रकार का है। मनुष्य उसका उच्चारण जहाँ कण्ठादि की सहायता से करता है वहाँ ग्रामाफोन में कुछ यंत्रो की सहायता से किया जाता है परन्तु है दोनों ही निराकार।

(१७)

"जैसे एक कागज के टुकड़े अथवा धातु के सिक्के पर किसी राजा, महाराजा का चित्र बना देने से वह मूल्यवान् बन जाता है, इसी प्रकार एक मूर्ति परमात्मा की मान लेने पर वह पूजनीय हो जाता है।"

एक करेन्सी नोट, हुण्डी अथवा सिक्का इसीलिये मूल्यवान् नहीं हो जाता कि उस पर किसी सम्राट् का चित्र है अथवा मुहर या हस्ताक्षर है। उसका मूल्य राज्य की साख पर निर्भर है। राज्य उस मूल्य को चुकाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। यही कारण है कि जिस प्रकार एक व्यापारी का दिवाला निकल जाने पर उसकी हुण्डी एक रद्दी कागज का टुकड़ा रह जाती है, ठीक इसी प्रकार राज्य के परिवर्तन पर उस करेन्सी नोट का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। परमात्मा निराकार है उसकी कोई आकृति वा मूर्ति ही नहीं। अतः जिस प्रकार जाली सिक्का प्रचलित करने पर राजदण्ड मिलता है उसी प्रकार क्या मूर्तिपूजक दण्डनीय नहीं ठहरते?

(१८)

"मूर्ति परमात्मा का शरीर है, शरीर की पूजा करने से शरीरी प्रसन्न होता है, अतः मूर्तिपूजा ठीक है।"

न्यायदर्शन, "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्"—क्रिया, इन्द्रियाँ, और इनके आश्रय को शरीर बताता है। मूर्ति में कोई भी शरीर

का लक्षण नही। यदि यह कहो कि जिस प्रकार ब्रह्माण्ड को परमात्मा का शरीर माना गया है उसी प्रकार मूर्ति भी परमात्मा का शरीर है, परन्तु ब्रह्माण्ड को शरीर बताना केवल एक रूपक अलङ्कार है, वास्तविकता नही। केवल व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से मूर्ति परमात्मा का शरीर नही हो सकती अन्यथा हमारा शरीर भी परमात्मा का शरीर हो जायगा। तब हम अपने शरीर की ही पूजा करके परमात्मा को प्रसन्न कर सकते है, मूर्ति की आवश्यकता ही नही रहती। या फिर समस्त पदार्थ ही परमात्मा के शरीर है, मूर्ति का झगडा ही व्यर्थ है।

(१९)

"जैसे अग्नि के निराकार और साकार दो रूप है उसी प्रकार परमात्मा के भी निराकार और साकार दो रूप है। इसीलिए निराकार परमात्मा की निर्गुण और साकार परमात्मा की सगुणोपासना की जाती है। सगुणोपासना का ही दूसरा नाम मूर्तिपूजा है।"

अग्नि का स्वाभाविक गुण रूप है। जिसका रूप स्वाभाविक गुण हो वह कभी भी निराकार नही हो सकता। शास्त्रों में अग्नि की दो अवस्थाएं वर्णन की है एक उद्भूत दूसरी अनुद्भूत। जब अग्नि के अवयव अलग-अलग हो जाते हैं तो दिखाई नही देते। किन्तु जब रगड़ आदि से प्रकट होते हैं तो दिखाई देते हैं। इसका यह अर्थ नही कि वे दिखाई न देने के कारण निराकार हैं। दूध मे घी दिखाई नही पड़ता और न तिलों में तेल दीखता है—बिलौने से अथवा पेरने से उनमें घी व तेल प्रकट हो जाता है। तो इसका यह तात्पर्य नही कि घी व तेल पहिले नही था या पीछे उत्पन्न हो गया। जो वस्तु निराकार है वह सदा निराकार ही रहेगी। पुनः जैसा कि पूर्व लिखा

की हृदय मे धारणा वा चिन्तन करते है जिससे हम भी उन गुणो को धारण कर सके तो उसे सगुणोपासना कहते हैं। इसी प्रकार जब हम ईश्वर के अजर, अमर, अनादि, अनन्त आदि ऋणात्मक गुणो को हृदय मे धारण करते है, तो वह निर्गुणोपासना है। निर्गुणोपासना के प्रभाव से उपासक मे निर्गुणता आती है। यदि ईश्वर अमर है तो वह भी अमर हो जाता है। उसके प्रभाव से उपासक के अन्दर जैसा कि सगुणोपासना मे होता है, कुछ आता नही अपितु कुछ जाता है। किन्तु इस जाने से उसे आनन्द और शान्ति प्राप्त होती हैं। कठोपनिषद् के निम्न मन्त्र मे यही भाव स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किये हैं —

अशब्दमस्पर्शम रूपमव्ययम् तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तम्महत पर ध्रुव निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। कठ. १।२।१५॥

अर्थात ईश्वर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अनादि, अनन्त है। इस प्रकार उस महान् परम ध्रुव का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है।

(२०)

"लडकियाँ पहले गुडिया खेलती हैं। परन्तु विवाह होने पर उसे छोड़ देती है। ऐसे ही पहले हम मूर्तिपूजा करते है। जब ईश्वर मिल जायगा तो छोड देंगे।"

"तुलसी प्रतिमा पूजिबो, है गुड़िया को खेल।
जब पहुँचे ससुराल मे, देय पिटारे मेल॥"

जिस प्रकार मूर्तिपूजा ईश्वर-प्राप्ति का साधन समझा जाता है, उसी प्रकार गुडियो का खेल विवाह का साधन नही है। यदि ऐसा होता तो सब माता-पिता लड़कियो के विवाह की

चिन्ता से मुक्त हो जाते। गुड़ियों का खेल वास्तव में बच्चों के मन बहलाव की वस्तु है। क्या मूर्तिपूजा भी मन बहलाव की वस्तु है ? उस कन्या के लिये क्या कहा जायगा जो बूढ़ी हो गई है किन्तु गुड़ियों से ही खेलती है। लोग बुड्ढे हो जाते हैं किन्तु उनसे गुड़िया रूपी मूर्तिपूजा नहीं छूटती। सत्य तो यह है कि मूर्तिपूजक का अमूल्य धन और समय इसी खेल में व्यतीत हो जाता है, और वह अभागा यह ही समझता रहता है कि वह इसके द्वारा ईश्वर के निकट पहुँच रहा है। एक बच्चा भी गुड़ियों के खेल को खेल ही समझता है परन्तु एक मूर्तिपूजक बुड्ढा होने पर भी मूर्तिपूजा को ईश्वर पूजा समझता है। इस अज्ञान के लिये क्या कहा जाय ?

किसी समाज के उत्थान के लिये उसमे उत्पन्न होने वाली कुरीतियो को दूर करना अनिवार्य है। मूर्तिपूजा से हिन्दू-जाति को हानि हुई है, उसका दिग्दर्शन इस पुस्तक मे कराया है। ऐसी कुप्रथा को जिसने हमारे समस्त मानसिक एवं सामाजिक जीवन को खोखला कर दिया है उसे इसलिये जीवित रखना कि वह कुछ शताब्दियो से एक जोक की भाँति हमसे चिपट गई है, आत्मघात के सदृश है।

(२२)

"मूर्तिपूजा वर्तमान हिन्दू धर्म की आत्मा के तुल्य है। उसे विना घोर क्रान्ति उत्पन्न किये नष्ट नही किया जा सकता। परन्तु ऐसा करने से हिन्दू-जाति में प्रबल उथल-पुथल एव पारस्परिक मनोमालिन्य उत्पन्न होने का वडा भय है, जो सङ्गठन एव राष्ट्रोन्नति मे वाधक सिद्ध होगा। अतएव हानिप्रद होते हुए भी मूर्तिपूजा के विरुद्ध कुछ कहना कम से कम वर्तमान परिस्थिति में उचित प्रतीत नही होता।"

इसमे कोई सदेह नही कि मूर्तिपूजा वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्म की जान है। हिन्दू-धर्म का समस्त ताना-बाना इसी से पूरित है। यह भी सत्य है कि इसे विनिष्ट करने के लिये प्रबल क्रान्ति की आवश्यकता है। परन्तु क्रान्ति के भय से किसी सुधार को स्थगित नही किया जा सकता। रोग जितना भयानक होगा उसे दूर करने के लिए उतने ही प्रबल उपचार की आवश्यकता होती है। इस भय से कि शस्त्र-चिकित्सा मे रोगी को कष्ट होगा उपचार रोका नही जा सकता। मूर्तिपूजा ने ही जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं, आर्य-जाति की स्वाधीनता एवं सगठन पर कुठाराघात किया है। मूल कारण को दूर किये बिना जिस प्रकार रोग दूर नही हो सकता, वैसे ही मूर्तिपूजा जो हिन्दू-जाति को विभाजित एव पराधीन बनाने का मूल कारण, है जब तक

करता है, अपितु उसकी निन्दा भी करता है। इतना ही नही, एक ही सम्प्रदाय के उपास्यदेवो मे भी विभिन्नता है। वैष्णव सम्प्रदाय राम और कृष्ण दोनो को ही पूर्णावतार मानता है। किन्तु इस सम्प्रदाय का एक दल राम को विशेषता देता है और दूसरा कृष्ण को। और एक दूसरे की मूर्ति की पूजा करने को उद्यत नही है।

परम वैष्णव श्री गोस्वामी तुलसीदास के लिये प्रसिद्ध ही है कि जब वह मथुरा आये तो कृष्ण की मूर्ति को यह कह कर—

कहा कहो छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष बाण लो हाथ॥

उस समय तक नतमस्तक नही हुए जब तक कृष्ण की मूर्ति ने धनुष बाण लेकर राम का रूप धारण नही कर लिया। चाहे उपर्युक्त घटना सर्वथा असत्य हो परन्तु यह सिद्ध करने के लिय पर्याप्त है कि एक वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी विभिन्नताए विद्यमान हैं।

"हस्तिना ताडयमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" हाथी के आक्रमण करने पर भी जैन के मन्दिर मे न जाय, यह प्रसिद्ध लोकोक्ति–इसका दूसरा ज्वलन्त उदाहरण है। हिन्दू मूर्तिपूजक का अवतारवाद मे अटल विश्वास है। अत. यदि यह निराकार ईश्वर के विशेषणो का कभी अपनी स्तुति प्रार्थना मे समावेश कर देता है तो इससे यह सिद्ध नही होता कि वह मूर्ति की पूजा न करके निराकार ईश्वर की पूजा कर रहा है वह ईश्वर के दोनो ही रूपो, साकार तथा निराकार में विश्वास रखता है। इसीलिए कभी-कभी मूर्ति की स्तुति मे निराकार के भी विशेषणो का समावेश कर लेता है। इसके अतिरिक्त पुराणो मे देवता तथा देवियो की अनेक गाथाऐ उपस्थित है। जिनमे उनके जन्म, विवाह, सन्तानोत्पत्ति एव

युद्धों का विशद वर्णन है। इन गाथाओं के विद्यमान होते हुए यह कहना है कि हिन्दू धर्म बहुदेवतावादी नहीं है अयथार्थ है।

(२४)

"वृक्ष अपने फलों से जाना जाता है। जब हम यह देखते हैं कि मूर्तिपूजा में विश्वास रखनेवालों में बहुत से महापुरुष हुए हैं अथवा हैं, जिनका आदर्श चरित्र एवं आत्मबल अनुकरणीय है; फिर यह कैसे मान लिया जाय कि मूर्तिपूजा पाप है ?"

रही है चाहे वह परम्परागत होने के कारण से हो, चाहे इसलिए कि उसे उन्होने विशेष हानिप्रद नही समझा। उनका समस्त जीवन यम, नियमों की मणिमाला से ओतप्रोत पाया जाता है और जैसा कि हम पूर्व लिख चुके है योग के केवल प्रारम्भिक यम, नियम दो अङ्गो का साधन ही मनुष्य को महात्मा बनाने के लिये पर्याप्त है। अष्टाङ्ग योग की सिद्धि तो मनुष्य को उस अवस्था तक पहुंचा देती है जिसकी कि आज हम इस युग मे कल्पना भी कठिनाई से कर सकते हैं। फिर यह महानुभाव आप्त पुरुष नही थे जिनका प्रत्येक कार्य हमारे लिए अनुकरणीय हो। इसके अतिरिक्त हमने इस पुस्तक मे वेद शास्त्रो के अनेक प्रमाण तथा रामायण काल से लेकर महाभारत काल तक की अनेक ऐतिहासिक साक्षी उपस्थित करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया हैं कि उस काल मे जो आर्य जाति के महान वैभव और उत्कर्ष का युग था, केवल एक निराकार ब्रह्मोपासना का सर्वत्र प्रचार था। इन आप्त ग्रन्थो एवं आप्त पुरुषो की साक्षी के समक्ष आधुनिक भ्रान्त महापुरुषों की साक्षी का क्या महत्व हो सकता है इस पर अधिक लिखना उचित प्रतीत नही होता। राजा राममोहनराय, इस युग के महान सुधारक ऋषि दयानन्द तथा अन्यान्य हिन्दू सन्तो द्वारा मूर्तिपूजा की युक्तियुक्त समीक्षा भी कम महत्वपूर्ण नही है।

(२५)

"जब हम इमारत बनाते है तो मचान बाँध कर उसके ऊपर खडे होकर काम करते है और इमारत तैयार हो जाने पर मचान को निकाल देते हैं। जिनको ज्ञान प्राप्त है उनके लिए मन्दिर और तड़ाग की आवश्यकता नही होती, किन्तु सामान्य लोगों के

लिए पूजा, स्नान आदि की आवश्यकता रहती है"।

—श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

"मूर्ति-पूजा ईश्वर प्राप्ति की सीढ़ी है"—की समीक्षा, शंका समीक्षा [४१] में की जा चुकी है। यह शंका भी उस जैसी ही है। यहाँ मकान की मूर्ति-पूजा से तुलना की गई है और उसे अज्ञ पुरुषों के लिए ईश्वर प्राप्ति का साधन बताया गया है। योग साधन और मूर्ति पूजा अध्याय में यह सिद्ध किया जा चुका है कि योग-दर्शन ईश्वर प्राप्ति के साधनों में मूर्ति पूजा का समावेश नहीं करता, यम नियमादि अष्टांग योग ही उसके साधन हैं जो सामान्य और असामान्य सभी लोगों की पहुँच से बाहर नहीं है। मचान की इन्हीं यम नियमादि से तुलना की जा सकती है मूर्ति पूजा से नहीं। साधन साध्य के समतुल्य ही होना चाहिए तभी साध्य की प्राप्ति सम्भव है। मूर्ति पूजा को प्रथम साधन मान लिया गया और उसे मचान के समान बता दिया परन्तु मूर्ति पूजा तो एक खाई है जिसमें गिर कर मनुष्य उससे कभी बाहर नहीं आता। हमने आज तक किसी को नहीं देखा कि जिसने मूर्ति पूजा इसलिए छोड़ दी हो कि अब उसे इसकी आवश्यकता नहीं रही। एक मूर्तिपूजक सदा मूर्ति पूजक रहता है। इस प्रकार भवन निर्माण होने पर भी मचान की भाँति ही साथ लगा रहता है या यों कहिये कि यह मचान कभी हटाया ही नहीं जाता, और हम मकान बना कर सदा ही उस पर [illegible] हैं।

इसी [illegible] जी जैसे विद्वान और सहिष्णु व्यक्ति [illegible] मूर्ति पूजा पसन्द नहीं वे वैसी पूजा न करें [illegible] है।' तब तो जिन महापुरुषों, [illegible] और [illegible]—[illegible] पुरस्सर ऋषि दयानन्द, [illegible], [illegible], कबीर, नानक जिन्होंने धर्मनिष्ठ

रूप से मूर्ति पूजा का खन्डन किया है, सभी मूर्ख हुए ? ईसा, शंकराचार्य, संत तुकाराम, गुरुरामदास, ज्ञानेश्वर, मार्टिनलूथर, बशवेश्वर, शिवाक्किवर माणिक्कुवाचकर आदि अनेक संत और आचार्य हुए है जिन्होने मूर्ति पूजा की तीव्र आलोचना की है। यह दूसरी बात है कि आगे चलकर उनके अनुयायी स्वयं मूर्ति पूजा करने लगे हों—क्या ये भी मूर्ख कोटि में आते है ? हमें दुःख है कि राजा जी जैसे विद्वान ने आवेश में आकर ऐसे अदूरदर्शिता पूर्ण वाक्य लिखे है। मूर्ति पूजा वेद, शास्त्र, उपनिषदादि आर्ष ग्रथो के विपरीत है। अतएव उसकी आलोचना न केवल युक्ति संगत है, अपितु वैदिक संस्कृति के प्रत्येक उपासक का धर्म है।

(२६)

एक बार राजा [अलवर नरेश] ने स्वामी जी से कहा कि मूर्ति पूजा पर मेरा विश्वास नही होता। राजा की यह बात सुनकर स्वामी विवेकानन्द दीवार पर से महाराज का चित्र उतार कर दीवान से बोले, "यह किसका चित्र है" ? दीवान ने कहा, "यह महाराजा साहब का फोटो है"। जो लोग वहा मौजूद थे उन लोगो से स्वामी जी ने फोटो पर थूकने के लिए कहा। लेकिन किसी ने भी वैसा करने का साहस न किया। विस्मय व डर के मारे सभी घबरा उठे। तब स्वामी जी बोले, "चित्र मे तो महाराजा साहब नही है, तो भी इस पर कोई थूकने की हिम्मत नही करता। इसका एक मात्र कारण यही है कि सब लोग यह सोचते है कि ऐसा करने से जिसका यह चित्र है उसका अपमान होगा। मूर्तिपूजा मे भी ऐसा ही है। कोई ईंट पत्थर या काठ की पूजा नही करता, बल्कि अपने इष्ट देव के अनुकूल मूर्ति बनाकर पूजता है। उसी मूर्ति में वह अपने इष्ट देव की छाया देख पाते है, ईंट पत्थर को नही देखते। जो मूर्ति की पूजा करते हैं वे

एक मूर्ति-पूजक मूर्ति को ही ईश्वर समझ कर उसकी पूजा करता है, उसमे व्यापक ईश्वर की नही, क्योकि जब तक उस मूर्ति मे प्राण प्रतिष्ठा नही होती वह उसे पाषाण की भांति जड वस्तु ही समझता है। प्राण प्रतिष्ठा होने पर उसकी पूजा का प्रकार, यह सिद्ध करता है कि वह उस मूर्ति की ही पूजा करता है, ईश्वर की नही, अन्यथा सर्वव्यापक परमात्मा तो उस मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा से पूर्व भी व्याप्त था। यदि मूर्तिपूजा मे मूर्ति व्याप्त ईश्वर की पूजा है तो उसकी स्नान, चन्दन-लेपन, भोग, दीप आदि से अर्चना का कोई अर्थ नही, क्योंकि ईश्वर को तो इन वस्तुओ की आवश्यकता ही नही है। अतएव जो युक्तिया मूर्तिपूजा की सिद्धि मे श्री स्व० विवेकानन्द ने दी हैं वे हेत्वाभास एव भ्रात है।

उपासना विधि

मूर्तिपूजा के अभाव में हमारी उपासना-विधि क्या हो ? यह एक प्रश्न है, प्रायः जिसे या तो जटिल समझा जाता है या जटिल बनाकर सर्व साधारण के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। जैसा कि हमने इस पुस्तक में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है मूर्तिपूजा का प्रारम्भ महाभारत काल के पश्चात हुआ है। और उसका हमारे प्राचीन वैदिक धर्म और संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस समय इस देश में मूर्तिपूजा का प्रचार नहीं था, उस समय जनसाधारण की एक सर्वाङ्गपूर्ण उपासना-विधि थी, इस विषय पर हमारे धर्मशास्त्र और इतिहास पर्याप्त प्रमाण रखते हैं। तब क्यों इस प्रश्न को इतना जटिल समझा जाता है। बात स्पष्ट है, मूर्तिपूजा के समर्थक इसकी आड़ में उसको जीवित रखना चाहते हैं। क्यों रखना चाहते है, इस विषय पर इस पुस्तक में पर्याप्त विचार किया जा चुका है।

उन्नति के साथ आत्मविकास भी कर सके, आवश्यकता सदा और सर्वत्र अनुभव हुआ करती है। प्राचीन आर्य जाति इस विधि से अनभिज्ञ नही थी। हमारे धर्मशास्त्र प्रातः साय नित्य नैमित्तिक रूप से प्रत्येक नर-नारी एव बाल-वृद्ध को सन्ध्या करने का बल पूर्वक उपदेश देते हैं। हमारा प्राचीन इतिहास उसका साक्षी है, जिसको हमने यथास्थान सिद्ध किया है। आज भी मूर्तिपूजा के प्रचार से यह विधि लोप नही हुई, यह दूसरी बात है कि समय के फेर से उसका कुछ रूप बदल गया हो।

यह सन्ध्योपासना-विधि योग के आधार पर निर्माण की गई है। प्रत्येक अपनी अभिरुचि के अनुसार यदि वह चाहे तो इसकी सहायता से उत्तरोत्तर अपने आत्म-विकास द्वारा समाधि अवस्था तक पहुंच सकता है। आचमन मार्जना प्राणायाम तथा गायत्री मन्त्र का जाप आदि समस्त विधि सरल एव सुबोध हैं और प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति थोडे से प्रयत्न और अभ्यास से उसे हृदयङ्गम कर सकता है। परन्तु फिर भी प्रश्न रह जाता है, अज्ञ जन समुदाय के लिए, जिसकी गणना हमारे देश मे दुर्भाग्य से आज ८० प्रतिशत के लगभग है, किस विधि का प्रचार किया जाय। योग दर्शन जैसा कि पूर्व लिख चुके हैं, प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग के लिए चाहे वह विद्वान हो अथवा अविद्वान, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित उपासना विधि का समान रूप से वर्णन करता है। अशिक्षित समुदाय के लिए "ओङ्कार जाप" की सरल विधि योगदर्शन मे विद्यमान है। तज्जपस्तदर्थभावनम् (योग दर्शन समाधिपाद सूक्त २८) ओउम् का जाप और उसका अर्थचिन्तन एक अत्यन्त सरल विधि है, जिससे बाल-वृद्ध, शिक्षित - अशिक्षित सब ही समान लाभ उठा सकते है। इसी भांति गायत्री मन्त्र के अर्थसहित जाप का अभ्यास भी थोड़े से परिश्रम से किया जा सकता है। गायत्री मन्त्र जाप का हमारे धर्मशास्त्र में ओङ्कार जाप की भांति बड़ा

महात्म्य है। मन्त्र जाप भी चित्त की एकाग्रता का एक साधन है। अतः साधारण शिक्षित लोग उससे समुचित लाभ उठा सकते हैं।

प्रणव अथवा मन्त्र जाप मे जिस बात की विशेष आवश्यकता है और जिसे दुर्भाग्यवश पौराणिक काल मे सर्वथा भुला दिया गया था, वह 'अर्थ विचार' है। एक हिन्दू समझता हैं कि बिना अर्थ-विचारे मन्त्र जाप मात्र से ही उसके पाप नष्ट हो जाते हैं, किन्तु जब तक हम मन्त्रार्थ नही जानते तब तक हम उससे पूर्ण लाभ नही उठा सकते और न उससे हमारे विचार ही प्रभावित हो सक्ते हैं। जप का उद्देश्य विचारो की शुद्धता और मन की एकाग्रता है। यदि इससे इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति नही होती है तो उसका महत्व तोते की रट से अधिक नही। अतः जप के साथ अर्थ विचार अनिवार्य है।

प्रत्येक व्यक्ति को पञ्च - यज्ञों के नित्य अनुष्ठान का आर्य-धर्म पद-पद पर उपदेश देता है। इन्ही आह्निक कर्मों में एक ब्रह्म यज्ञ है। सन्ध्या, जप, स्वाध्याय और प्रवचन ये सब ही ब्रह्म यज्ञ के अन्तर्गत हैं। अर्थात् सायं, प्रात; ईश्वरोपासना मन्त्र जाप, वेदादि सद्ग्रन्थों का नियम पूर्वक अध्ययन तथा जो कुछ स्वयं अध्ययन किया है उसे दूसरों पर प्रकट करना, ये प्रत्येक के लिये नित्य नैमित्तिक कर्म हैं। परन्तु हिन्दू समाज में जहाँ ईश्वरोपासना का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया है, वहाँ स्वाध्याय का या तो सर्वथा अभाव हो गया या रामायण, भागवतादि इतिहास पुराणो ने ले लिया, और वेद शास्त्र, स्मृति आदि सद्ग्रन्थों का अध्ययन लुप्तप्राय हो गया। सर्वसाधारण का धर्मविषयक ज्ञान राम और कृष्ण की कथाओ से अधिक कुछ नही है। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि पौराणिक काल में वेदाध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मणों तक ही

सीमित कर दिया गया । वैदिक काल में वेदाध्ययन पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही था । ऐसी अवस्था में यदि वेदादि उच्चकोटि के धार्मिक साहित्य का सर्व साधारण से सम्पर्क न रहा तो यह कोई आश्चर्य की बात नही है । आज हिन्दू जाति अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य से बहुत कम परिचित है । उसका ज्ञान केवल कुछ पौराणिक-एव-ऐतिहासिक गाथाओ तक ही सीमित है । अत: आर्य धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए यह परमावश्यक है कि हम हिन्दुओ मे अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य के लिए पुन: अभिरुचि उत्पन्न करे ।

पञ्च यज्ञो मे दूसरा स्थान देव-यज्ञ का है, जिसका दूसरा नाम अग्निहोत्र अथवा हवन है । इसका भी आर्य जीवन मे ब्रह्मयज्ञ की भाति मुख्य स्थान है । सन्ध्या की भाति इसको भी प्रात: साय नित्यप्रति करने का विधान है, जैसा कि हम पूर्व वर्णन कर चुके हैं । महाभारत–युद्ध काल तक इन दोनो यज्ञो का हमारी दिनचर्या मे विशेष महत्व रहा था । हमारे पतन के साथ इस यज्ञविधि का भी पतन हुआ । रामायण काल मे राम को इन्ही यज्ञों के रक्षार्थ राक्षसो से घोर युद्ध करना पड़ा, परन्तु वही रुधिर, माँस जो उस समय यज्ञों को अपवित्र करता था, पशुबलि के रूप में यज्ञो मे डाला जाने लगा । गौ जैसे उपकारी और निर्दोष पशु की भी यज्ञो में बलि देना धर्म समझा जाने लगा । फलत: बौद्ध काल मे यज्ञ जैसे पवित्र धार्मिक कृत्य को इसी दोष के कारण परित्याग कर दिया गया । अग्निहोत्र का एक नाम देव-पूजा भी हैं । देव शब्द की भाति देव पूजा को भी मूर्ति-पूजा समझा जाना कोई आश्चर्य की बात नही है । आज आप किसी हिन्दू से देव पूजा का शब्दार्थ पूछें वह तुरन्त मन्दिरों में स्थित मूर्तियो की पूजा कह देगा । इसी प्रकार प्राचीन काल

में देव मन्दिर, देवालय, मण्डप शब्दों का प्रयोग यज्ञशालाओं के लिये हुआ करता था। किन्तु आज इन शब्दों को देखकर हम चौंक पड़ते हैं और समझने लगते हैं कि उस समय भी मूर्तिपूजा का प्रचार था। अब मन्दिर शब्द ही एक रूढ़ि बन गया है, जिसका अर्थ मूर्तिपूजा का स्थान समझा जाता है। शिवालय की बनावट यज्ञशाला जैसी है। बम्बई प्रान्त में अब भी उसके लिए मण्डप शब्द प्रयुक्त होता है। शिवालय सर्वत्र चौकोण अथवा अष्ट कोण बनाया जाता है। उसका शिखर, यज्ञाग्नि के शिखर के समतुल्य ही होता है। इसमें कोई आश्चर्य नही यदि किसी समय वाममार्ग काल में इन्ही यज्ञ मण्डपों का रूपान्तर वर्तमान काल के शिवालयों में कर दिया गया हो। कुछ विद्वानो का ऐसा ही मत हैं। शिवालय के मध्य में शिवलिङ्ग प्रायः एक गहरी गोलाकर वेदी में स्थापित होता है, जिसके सम्बन्ध में उनकी सम्मति है कि वह यज्ञ वेदी है। अत: यह अनुमान कि प्राचीन वैदिक देव-यज्ञ के भग्नावशेष पर ही मूर्तिपूजा का भवन निर्माण हुआ है, केवल एक कल्पना ही नही है अपितु उसमे बहुत कुछ तथ्य भी है। सन्ध्योपासना जहाँ व्यष्टि रूप से किये जाने वाला एक धार्मिक कृत्य है वहाँ अग्निहोत्र समष्टि रूप से होने वाली नित्य नैमित्तिक क्रिया है। प्रत्येक गृहस्थ प्रात. साय सामूहिक रूप से सपरिवार अग्निहोत्र करे, यह आर्य मर्यादा है। इसी प्रकार पक्ष, मास, चतुर्मास तथा षट्मास की समाप्ति पर सामूहिक अथवा सामाजिक अग्निहोत्र समारोहो का महा-भारत काल तक इस देश मे प्रचार था। दीपावली, शारदीय नवस्योष्टि तथा होली (वासन्तीय नव शस्योष्टि यज्ञ) ऐसे यज्ञों के रूपान्तर हैं। इसी प्रकार आषाढ़ की पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा, एवं फाल्गुन पूर्णिमा चातुर्मास यज्ञो के अवशिष्ट

मात्र है । अश्वमेध, गोमेधादि यज्ञो का राष्ट्रीय-स्वरूप है । उस समय इस देश मे अग्नि होत्र का इतना प्रचार और महत्व था कि प्रत्येक शुभ अवसर पर अग्नि होत्र से ही कार्य प्रारम्भ होता था। हमारे सस्कारो की यज्ञ प्रधानता आज भी हमे उस युग की याद दिलार्ता है। अग्निहोत्र द्वारा पञ्चदेव—आकाश, अग्नि, वायु, जल तथा पृथ्वी की शुद्धि और सस्कार होता है। यही इनकी पूजा हैं। और इसीलिये इसका नाम देव-यज्ञ अथवा देवपूजा है। जल-वायु की शुद्धि द्वारा अनायास ही अनेक सक्रामक रोगो से हमारी रक्षा होती है। यह निर्विवाद है कि अग्निहोत्र से हमारे मन और स्वास्थ्य पर एक अद्भुत प्रभाव पडता है जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति थोडे से व्यय और परिश्रम से स्वय कर सकता है।

आर्य जाति अपने धर्म और सस्कृति से आज बहुत दूर हट चुकी है, परन्तु अब भी उनके अकुर बीजरूप से उसमे विद्यमान हैं। आवश्यकता किञ्चित् नेतृत्व और पथप्रदर्शन की है। हजारो वर्षो से अनेक सम्प्रदायो द्वारा वह पथभ्रष्ट होती रही है। धर्म के नाम पर अनेक कुसस्कार और दुर्व्यसन उसमे घर कर गये है। तथापि राख की ढेरी के नीचे दबी हुई चिनगारी की भाँति आज भी वैदिक भावनाएं सर्वथा विलुप्त नही हुईं। हिन्दू समाज के कर्णधार स्वार्थ से ऊपर उठ कर उस दैवी अग्नि को प्रज्वलित करना चाहे तो वह अब भी ससार को पुन देदीप्यमान करने की क्षमता रखती है। इस जाति ने अनेक दुर्दिन देखे है किन्तु फिर भी उसका अपना प्राचीन गौरव सर्वथा विलुप्त नही हुआ। वह आज कङ्काल होने पर भी अनेक बहुमूल्य रत्नो की स्वामिनी है, और अब भी ससार को कुछ दे सकती है। क्या इसके लिये हम कुछ आत्मोसर्ग करेगे?

लेखक की अन्य रचनाएं

भारत में मूर्तिपूजा (तृतीय सस्करण)—	२.००
ऋषि दयानन्द के पुण्य सस्मरण	१.३७
भारतीय सस्कृति के तीन प्रतीक	.५०
पूर्वजन्मस्मृति–एक आध्यात्मिक विवेचन	.५०
आर्य समाज का नवनिर्माण	.१२
ब्राह्मण समाज के तीन महापातक (प्रेस में)	
ऋषि दयानन्द का सुन्दरतम आफसैट चित्र पाँच रगी मे आकार १८×२२ इन्च	.७५

पुस्तक मिलने का स्थान—

व्यवस्थापक, वेद मंदिर प्रकाशन

अतरौली (अलीगढ़) उत्तर प्रदेश

गीता पर क्रान्तिकारी साहित्य

गीता सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियो पर खुला विचार

आकार—२० × ३० × १६—२८ पौंड कागज, आकर्षक मुख पृष्ठ

गीता समीक्षा

(गीता अवैदिक है) श्री चमनलाल वेदार्थी, एम० ए०

पृष्ठ १३० मूल्य १)

गीता विमर्श

(समस्त गीता प्रक्षिप्त है) प० राजेन्द्र, पृष्ठ ८० मूल्य ७५ न० पै०

गीता की पृष्ठभूमि

(अर्जुन-विषाद, गीताकार की एक मिथ्या कल्पना) प० राजेन्द्र,

पृष्ठ ५८ मूल्य ४० न० पै०

ऋषि दयानन्द और गीता

(गीता ऋषि दयानन्द को सर्वथा अमान्य थी) प० राजेन्द्र,

पृष्ठ २८ मूल्य १५ न० पै०

उपर्युक्त पुस्तकों पर विद्वानों तथा पत्रों की सम्मति

१. आपने मुझे चार पुस्तके (उपर्युक्त गीता साहित्य) दी थी। वे चारो मैंने पढ ली हैं। आपने जो कुछ लिखा है उससे अधिकाश मे मैं सहमत हूँ। क्वचित् क्वचित् विचार भेद है। सम्भव है विचार विनिमय होने पर हम दोनो सर्वांश मे सहमत हो सके।

—स्वामी ध्रुवानन्द

प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

२. 'श्री चक्खनलाल जी की 'गीता समीक्षा' बहुत अच्छी है। गीता के विषय मे आर्यों की दुपल्ली नीति भ्रान्तिमूलक भी है और भ्रान्ति उत्पादक भी।

'गीता की पृष्ठ भूमि' तथा ''ऋषि दयानन्द और गीता' दोनो पुस्तकें मिली। गीता के सम्बन्ध मे जो भ्रान्ति फैली हुई है उनके निराकरण मे आपने भरसक प्रयत्न किया है। परन्तु गीता की प्रचलित और प्रसरित ख्याति से लाभ उठाने का लालच आर्यसमाज मे भी बना हुआ है। 'अर्थकामेष्व सक्ताना धर्म ज्ञानं विधीयते।' आपने अपना कर्तव्य पालन किया और अच्छी तरह से। इसके लिये धन्यवाद।

—प० गगा प्रसाद उपाध्याय एम० ए०, प्रयाग

३. मैंने गीता के सम्बन्ध मे आपकी पुस्तक (गीता विमर्श) पढी है, वह समीचीन (सत्य) है। गीता महाभारत मे प्रक्षिप्त है।...मैं इस गीता का बडा विरोधी हू।

—(स्वामी) रामेश्वरानन्द, ससद सदस्य (एम० पी०)

४. गीता एक भ्रामक ग्रथ है।

—प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, वाराणसी

५. मैंने श्री चक्खनलाल जी एम० ए० की लिखी 'गीता समीक्षा' तथा श्री पं० राजेन्द्र (अतरौली) की 'गीता की पृष्ठ भूमि', 'ऋषि दयानन्द और गीता' देखी-पढी। इन पुस्तको को पूर्वापर पढने पर पूरा निश्चय हो जाता है कि गीता ऋषि दयानन्द के विचार से धर्म मे प्रमाण पुस्तक नही है। आर्यसमाज के विद्वानो को चाहिये कि गीता को प्रमाणित कोटि मे न रख कर एक साधारण पुस्तक मानें। वेदो का सार इसे बताना अपनी मूर्खता का प्रमाण देना है। गीता के श्लोको का प्रयोग गीता मानने वालो के लिए जैसा श्री स्वामी जी ने किया है वैसा आर्य पडित भी कर सकते हैं।

गीता मे प्रक्षिप्त अप्रक्षिप्त का विवेचन करना व्यर्थ का सर दर्द

मोल लेना है । हमारे लिए तो वस 'वेद एव परो धर्मः' मनुवचन मान्य है।

–बिहारी लाल शास्त्री, बरेली (कार्तिक कृ० ६, स० १६१६ वि०)

६ चारो पुस्तक (उपर्युक्त गीता समीक्षा आदि) प्राप्त हुईं। आपकी खोज अद्वितीय है । मैं तो यह चाहता हू कि इन समस्त पुस्तको को प्रत्येक आर्यसमाजी पढे ।

—दिव्यानन्द सरस्वती
उप प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश व विदर्भ, नागपुर

७. गीता, महाभारत मे पूर्णतः प्रक्षिप्त है । प्रो० चक्खनलाल एम० ए०, आगरा व श्री प० राजेन्द्र, अतरौली ने उत्तम साहित्य गीता की अमान्यता पर लिखा है । .....आर्यसमाज के विद्वानो को मन्डन करने के लिए वहुत साहित्य है । उनको इस गलत ग्रथ के मन्डन मे अपनी शक्ति नही लगानी चाहिये और न आर्यसमाजी पत्रो को पौराणिकता के मूलाधार इस गीता के प्रचार को प्रोत्साहन देना चाहिये।

–प्रसिद्ध पौराणिक साहित्य समालोचक डा० श्रीराम आर्य,
कासगज (एटा) उत्तर प्रदेश

८. 'गीता समीक्षा'—प्रस्तुत पुस्तक कलेवर की दृष्टि से छोटी होने पर भी विषय वस्तु की दृष्टि से गम्भीर और विचारोत्तेजक है । एक दृष्टि से इसे क्रान्तिकारी कहा जाय तब भी कोई अत्युक्ति नही होगी, क्योकि लेखक ने गीता के सम्बन्ध मे प्रचलित धारणाओ का सप्रमाण और युक्तियुक्त खण्डन किया है । आमतौर पर समझा जाता है कि गीता उपनिषदो का सार है, अनेक स्थानो पर गीता के श्लोकों मे और उपनिषदो के वचनो मे अत्यधिक समानता भी है, किंतु दोनो के मन्तव्यो मे कितना अन्तर हैं- यह दर्शनीय है ।

कट्टर आर्य समाजी दृष्टिकोण से लिखी इस पुस्तक के निष्कर्षों से

किसी का मतभेद हो सकता है, परन्तु इसकी विचारोत्तेजकता असदिग्ध है—इसीलिये गीता के भक्तो को जहाँ यह पुस्तक अवश्य पढनी चाहिये वहाँ उनको भी, जो गीता को अपने धर्म का एकमात्र आधार ग्रथ नही मानते।

—दैनिक हिन्दुस्तान नई देहली १८-११-६२

९. गीता विमर्श—यह गीता पर एक युक्तियुक्त सप्रमाण विवेचन है। योग्य लेखक ने सैद्धान्तिक विषयो पर अनेक उत्तम पुस्तके लिखी हैं। शैली विवेचनात्मक प्रशसनीय है। ऐसे विवेचनो से जनता मे स्फूर्ति तथा ऊहा बढती है।

'वेद वाणी'-वाराणसी-मई १९६३

१०. गीता की पृष्ठभूमि—विद्वान् लेखक ने महाभारत के प्रमाणों से ही यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि युद्ध के समय 'अर्जुन विषाद' जिस पर गीता की सृष्टि आधारित है एक कल्पना तथा महाबाहु अर्जुन के प्रति घोर अन्याय है।...महाभारत मे गीता का प्रक्षेप अद्वैतवाद के प्रछन्न प्रचार का वैसा ही प्रयत्न है जैसा रामायण मे 'योगवशिष्ठ' का। वैदिक धर्मावलम्बियो को यह ग्रन्थ पढ कर सचेत हो जाना चाहिये।

ऋषि दयानन्द और गीता—विद्वान् लेखक ने बडे स्पष्ट रूप से गीता और आर्यसमाज की स्थिति का दिग्दर्शन कराया है और यह नि:सदिग्ध रूप से प्रमाणित कर दिया है कि महर्षि दयानन्द गीता को अप्रमाणिक मानते थे। अत: आर्यसमाज की वेदी से गीता का प्रचार अयुक्त हैं, इससे वेद प्रचार को अत्यन्त हानि पहुँच रही हैं।

'आर्य-मित्र' —लखनऊ—११ अगस्त १९६३

११. गीता पर प० राजेन्द्र जी की मान्य समालोचनात्मक पुस्तक विशेष मनन करने योग्य है।

इतिहास, आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश

(प्रथम भाग पृ० २२५)

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	८	नान	स्नान
७	१५	ह्लस	ह्रास
८	१	सवाराम	सघाराम
११	२०	जागृत	जाग्रत
२५	६	पेने	पेरने
३०	२४	जगह	जगत
३१	२२	परिणाम	इस परिणाम
३८	२६	लिये	के लिये
४४	१	देवता है	देता है
४५	२६	ब्रह्म	भ्रम
४७	२६	से	में
५०	३	इतिहासको	ऐतिहासिकों
५०	१५-१६	वाल्मीकि	वाल्मीकीय
५२	१३	जप करेंगे	जप करके
६५	१०	आह्लक	आह्निक
८०	१	विहीत	विहित
८२	२३	सम्य	साम्ब
८९	२	अपसी	अपनी
१०२	२२	ब्रह्म	ब्रह्मा
१०३	६	कीर्तिकी	कार्तिकी
१०४	७	ब्रह्मा पास	ब्रह्मा के पास
१०९	१४	घटना	घटाना
११३	१८	पूरा	मेरा
११६	५	भैरवी	भैरव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२१	२१	राजाओ	राज्यों
१३०	१६	पदाक्रान्त	पादाक्रान्त
१५९	११	कर्य	कार्य
१६६	५	उस	उसके
१७०	२२	प्रवाहित	प्रभावित
१७१	१२	उसका	उनका
१८१	२४	त्वा ॥	त्वा ॥ यजु० १५-६५
१८२	१०	समृन	ससृज ॥ अथ० ३-११-३
१८२	२४	विश्वे ॥	विश्वे ॥ ऋ० ११-१३०-३
१९०	३	वूसरा	दूसरा
१९९	१	अ त	अत मे
२०१	७	उम	उस
२२२	३	न सका	न कर सका
२२६	२३	ऊलटी	उलटी
२२८	२४	अपसे	अपने
२३७	१९	असभ्य	असम्भव
२४६	१५	वलिदेवी	वलिवेदी
२५६	२५	नवस्योष्टि	नवशस्येष्टि
२५६	२५	शस्योष्टि	शस्येष्टि